पञ्चमोऽध्यायः

(१०५) ३४९१ सप्तनोऽञ्छन्दसि। (५-१-६१) 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७।१७२३) इति 'वर्ग' (५।१।६०।१७२४) इति च। सप्त साप्तानि असृजत्। (तै. सं. ५।४।७।५)

*** शन्शतोर्डिनिश्छन्दसि तदस्य परिमाणमित्यर्थे वाच्यः। * (वा. ५।१।५८) पञ्चदशिनोऽर्धमासाः। (तै. सं. ७।५।२०।१) त्रिंशिनो मासाः। (तै. सं. ७।५।२०।१)**

'तदस्य परिमाणम्' तथा 'वर्ग' इन अर्थों में सप्तन् शब्द से वेद में अञ् प्रत्यय होता है। इस सूत्र में 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) की तथा 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' सूत्र से 'वर्गे' इसकी अनुवृत्ति होती है। अतः इन दोनों अर्थों में वेद में सप्तन् शब्द से अञ् प्रत्यय होता है।

उदा० सप्त साप्तानि असृजत्। (सप्त परिमाणम् येषाम्, सप्त वर्गः येषाम्—इन अर्थों में 'सप्तन्' से अञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) सूत्र से टि= अन् का लोप, साप्त् + अ = साप्त, तद्धितान्त मानकर प्रातिपदिक संज्ञा, बहुवचन में जस् नपुंसकलिङ्ग में ''जशसोः शिः' (७।१।२०) सूत्र से जस् का शि = आदेश, 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) सूत्र से नुम्, 'सर्वनामस्थाने च सम्बुद्धौ' (६।४।८) सूत्र से उपधा का दीर्घ—'साप्तानि' रूप सिद्ध होता है)

* वेद में 'तदस्य परिमाणम्' इस अर्थ में शन् जिसके अन्त में है उससे तथा शत् जिसके अन्त में उससे 'डिनि' प्रत्यय होता है—ऐसा कहना चाहिए। *

उदा० 'पञ्चदशिनः अर्धमासाः, त्रिंशिनः मासाः।' (पञ्चदश अहानि परिमाणम् येषाम् —इस अर्थ में शनन्त 'पञ्चदशन्' से डिनि प्रत्यय, ड् की इत् संज्ञालोप, डित् होने से टि = अन् का लोप पञ्चदश् +इन् = पञ्चदशिन्, प्रातिपदिकसंज्ञा, जस्, स् का रुत्व—पञ्चदशिनः। पन्द्रह दिन हैं परिमाण जिनके ऐसे अर्ध मास। त्रिंशत् अहानि परिमाणम् येषाम्—इस अर्थ में शदन्त त्रिंशत् से डिनि = प्रत्यय टिलोप

---

१. अत्र सूत्रे 'तदस्य परिमाणम्' (५।१।५७) इति सूत्रम्, 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' (५।१।६०) इत्यतो' वर्गे इति चानुवर्तते। सप्तन् शब्दात् छन्दसि विषयेऽञ्प्रत्ययो भवति वर्गेऽभिधेये। वर्गः = प्राण्यप्राणिविषयः, सङ्घः = प्राणिविषयः। साप्तानि इत्यत्र वर्गेऽर्थे पुस्त्वं भाव्यमिति चेत्, क्लीबत्वमार्ष बोध्यमिति नागेशः। तेन पुंस्त्वमपि बोध्यम्।

*** विंशतेश्चेति वाच्यम्[1]। * विंशिनोऽङ्गिरसः। (गो. ब्रा. १।१।८।१)**

*** युष्मदस्मदोः सादृश्ये[2] वतुब्वाच्यः। (वा. ५।२।३९) * त्वावतः पुरूवसो। (ऋ. ८।४६।१) न त्वावाँ अ॒न्यः। (ऋ. ७।३२।२३) य॒ज्ञं**

त्रिश् + इन् = त्रिंशिन् + जस् = अस्, स् का रुत्व विसर्ग—त्रिंशिनः मासाः। तीस दिन परिमाण हैं जिनका ऐसे महीने)

'विंशति शब्द से भी 'तदस्य परिमाणम्' इस अर्थ में डिनि प्रत्यय कहना चाहिये।'

उदा० विंशिनः अङ्गिरसः। (विंशतिः गोत्राणि परिमाणम् येषाम्— इस अर्थ में विंशति + डिनि = इन् 'ति विंशतेर्डिति' (६।४।१४२) सूत्र से 'ति' का लोप, भ संज्ञा, अलोप—विंश् + इन् =विंशिन् + जस्, स् का रुत्व विसर्ग। आङ्गिरस, अयास्य, गार्ग्य, गौतम आदि प्रवरों के भेद से भिन्न-भिन्न बीस अवान्तर गोत्र हैं परिमाण जिनके ऐसे आङ्गिरस—यह अर्थ है।)

काशिका में ये दोनों वार्तिक 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (५।१।५८) इस सूत्र पर उद्धृत हैं।

* युष्मद् तथा अस्मद् शब्द से सादृश्य अर्थ में वतुप् प्रत्यय वेद में कहना चाहिये।*

उदा० 'त्वावतः पुरुवसो।' 'न त्वावाँ अन्यः।' 'यज्ञं विप्रस्य मावतः।' (त्वम् इव—इस अर्थ में प्रस्तुत वार्तिक से 'युष्मत् + वतुप्' 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७।२।९८) सूत्र में युष्मद् के मपर्यन्त भाग का 'त्व' आदेश—त्वद् + वत्, ''आ सर्वनाम्नः' (६।३।९१) सूत्र से द् का आत्व, दीर्घ—त्वावत्। षष्ठी एकवचन में ङस् = अस् प्रत्यय, स् का रुत्व विसर्ग—त्वावतः। प्रथमा एकवचन में त्वावत् + सु, नुम्, उपधादीर्घ—त्वावान्त् + सु, सुलोप, संयोगान्त त् लोप—त्वावान् + अन्यः 'दीर्घादटि समानपादे (८।३।९) सूत्र 'न्' का रु आदेश, 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) सूत्र से रु से पूर्व आ का अनुनासिक आदेश—त्वावाँरु, रु का 'भोभगो' (८।३।१७) से य् आदेश, 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) से य् का

---

१. इदं पूर्ववर्ति च वार्तिकद्वयम् — 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु, (५।१।५८) इति सूत्रे पठितम्।

२. 'यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्' (५।२।३९) इति सूत्रे 'वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मभ्यां छन्दसि सादृश्ये उपसंख्यानम्' इत्येवं पठितं भाष्ये वार्तिकमिदम्।

विप्रस्य मावतः। (ऋ. १।१४२।२)

(१०६) ३४९२ **छन्दसि च[1]।** (५-१-६७) **प्रातिपदिकमात्रात्तदर्हतीति यत्। सादुन्यं विदुथ्यम्।** (ऋ. १।९१।२०)

(१०७) ३४९३ **वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि[2]।** (५-१-९१) **निर्वृत्तादिष्वर्थेषु। इद्वत्सरीयः।**

लोप कर देने पर 'त्वावाँ अन्यः' रूप बनता है'। मावतः—अहम् इव—इस अर्थ में—मावान्। षष्ठी के एकवचन में अष्मद् + वतुप्, मपर्यन्त का 'म' आदेश—म द् + वत्, द् का आत्व, दीर्घ—मावत् + ङस् = अस्, स् का रुत्व विसर्ग कर देने पर —मावतः रूप बनता है।)॥१०५॥

वेद में प्रातिपदिकमात्र से 'तदर्हति' इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।

उदा० 'सादन्यं विदथ्यम्।' (सदनम् अर्हति—इस अर्थ में 'सदन' से यत् प्रत्यय, 'अन्येषामपि दृश्यते' से दीर्घ—सादन + य, भ संज्ञा, अलोप, सादन्य + सु = अम्, सादन्यम्। सदन = गृह को प्राप्त करने योग्य। विदथः = यज्ञः तम् अर्हति—इस अर्थ में विदथ + यत्, भ संज्ञा, अलोप—विदथ्य + सु, अम् विदथ्यम्)॥१०६॥

वत्सरान्त शब्द से निर्वृत्त (अधीष्टः, भूतः या भावीं)—अर्थों में वेद में 'छ'= ईय प्रत्यय होता है।

उदा० इद्वत्सरीयः। (इद्वत्सरेण निर्वृत्तः, अथवा इद्ववत्सरम् अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा—इन अर्थों में इद्वत्सर शब्द से छ प्रत्यय, ईय आदेश, भसंज्ञा, अलोप—इद्वत्सरीयः। पाँच वर्षों के युग में इद्वत्सरीयः। पाच वर्षों के युग में इद्वत्सर तथा इदावत्सर ये शब्द दो दो वर्षों के लिये प्रयुक्त होते हैं। उस काल में सम्पन्न हुआ आदि अर्थों में 'इद्वत्सरीयः, इदावत्सरीयः' आदि शब्द रूप होते हैं। इसमें 'तेन निर्वृत्तम्' तथा 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी वा' (५।१।७९-८०) सूत्र का सम्बन्ध होता है।॥१०७॥

---

१. छन्दसि विषये प्रातिपदिकमात्रात् 'तदर्हति' इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। ठादीनामपवादः।

२. वत्सरान्तात् प्रातिपदिकात् निर्वृत्तादिष्वर्थेषु छन्दसि विषये 'छः' प्रत्ययो भवति ठञोऽपवादः। 'इद्वत्सर-इदावत्सरशब्दौ पञ्चवर्षे युगे द्वयोर्वर्षयोः संज्ञे। एवं संवत्सर-परिवत्सरशब्दावपि।'' इति पदमञ्जरी।

(१०८) ३४९४ **सम्परिपूर्वात्ख च**[१]। (५-१-१२) चाच्छः।

सम्वत्सरीणः। संवत्सरीयः। परिवत्सरीणः। परिवत्सरीयः।

(१०९) ३४९५ **छन्दसि घस्**[२]। (५-१-१०६) ऋतुशब्दात्तस्य प्राप्तमित्यर्थे। भाग ऋत्वियः। (ऋ. ३।२९।१०)

(११०) ३४९६ **उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे**[३]। (५-१-११८)

सम् तथा परि ये पूर्व में रहें तथा वत्सर शब्द अन्त में हो अर्थात् संवत्सर तथा परिवत्सर शब्दों में निर्वृत्त आदि अर्थों में छ तथा ख ये दो प्रत्यय होते हैं।

उदा० संवत्सरीयः, संवत्सरीणः। परिवत्सरीयः, परिवत्सरीणः। (संवत्सर + ख, 'ख' का 'ईन' आदेश, रेफ से परे णत्व—संवत्सरीणः, संवत्सर + छ = ईय, भ संज्ञा अलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, रुत्व विसर्ग करने पर रूप संवत्सरीयः सिद्ध होते हैं। 'आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्' (७।१।२) सूत्र से छ का ईय तथा ख का ईन आदेश होता है इसी प्रकार परिवत्सर + ख = ईन-परिवत्सरीणः और परिवत्सर + छ = ईय परिवत्सरीयः रूप होते हैं॥१०८॥

वेद में 'ऋतु' शब्द से 'तदस्य प्राप्तम्' (५।१।१०७) इस अर्थ में 'घस्' प्रत्यय होता है।

उदा० 'ऋत्वियः।' (ऋतु शब्द से ऋतुःप्राप्तः अस्य—इस अर्थ में 'घस्' प्रत्यय करने पर स् की इत्संज्ञा, लोप, घ का इय आदेश ऋतु + इय, 'सिति च' (१।४।१६) सूत्र से पदसंज्ञा होने के कारण भसंज्ञा बाधित हो जाती है जिसके कारण 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) सूत्र से 'उ' का गुण न होकर यण् ही होता है—उ = व्—ऋत्विय, प्रातिपदिक संज्ञा, सु, विसर्ग—ऋत्वियः।)॥१०९॥

धात्वर्थ = क्रिया है प्रयोजन जिसका ऐसे साधन = कारक अर्थ में वर्तमान (प्रयुक्त) शब्द से स्वार्थ में 'वति' प्रत्य हो। (इस प्रकार की स्थिति उपसर्गों की ही

---

१. संपरिपूर्वाद् वत्सरात् प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये 'निर्वृत्तादिषु अर्थेषु 'खः' प्रत्ययो भवति, चकाराच्छश्च।

२. घसः सित्वेन 'सिति च' इति पदत्वेन भत्वे निरस्ते 'ओर्गुणः' इति गुणो न भवति तेनोकारस्य यण्—ऋतु + इय = ऋत्वियः।

३. उपसर्गाः प्रादयः। ते चैवमात्मकाः। यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाया विशेषका भवन्ति—आगच्छति, प्रगच्छतीति। यत्र न प्रयुज्यते, तत्र ससाधनक्रियावाचकाः—सङ्कटः, उत्कटः। क्रियावाची शब्दः वत्यन्तानां प्रयोगे न प्रयुज्यते। तेन साधनो धात्वर्थः स्वार्थः। तेन साधने धात्वर्थे वर्तमानादुपसर्गात् प्रत्ययो विज्ञायते—स साधने धात्वर्थ इति।

धात्वर्थविशिष्टे साधने वर्तमानात् स्वार्थे वतिः स्यात्। यदुद्वतो निवतः। (ऋ.१०।१४२।४) उद्गतान्निर्गतादित्यर्थः।

(१११) ३४९७ **थट् च छन्दसि**[१]। (५-२-५०) नान्तादसंख्यादेः परस्य डटस्थट् स्यान्मट् च। पञ्चथम्। पञ्चमम्। (चकरात् पक्षे मडपि भवति।)

सम्भव होती है; क्योंकि वे श्रुत क्रिया को विशेषित करते हैं; जैसे—आगच्छति। किन्तु जहाँ क्रिया नहीं सुनाई देती है वहाँ वे क्रियाविशिष्ट साधन अर्थ का बोध कराते हैं जैसे—निष्कौशाम्बिः, कौशाम्बी नगरी से निकला हुआ पुरुष आदि)

उदा० यदुद्वतो, निवतः। (उत् उपसर्ग उद्गत अर्थ में है अतः इससे 'वति' प्रत्यय करने पर पञ्चमी एकवचन में—उद्वतः। इसी प्रकार 'नि' उपसर्ग 'निर्गत' अर्थ में विद्यमान है, इस से भी 'वत्' प्रत्यय, पञ्चमी एकवचन का रूप है)। इन दोनों के अर्थ हैं—उद्गतात् तथा निर्गतात्॥११०॥

नकारान्त असंख्यादि (जिसके आदि में संख्यावाची शब्द नहीं है उस) से परे 'डट्' प्रत्यय को थट् तथा मट् ये दोनों आगम होते हैं।

उदा० पञ्चथम्, पञ्चमम्। (पञ्चानां पूरणः—इस अर्थ में नकारान्त असंख्यादि पञ्चन् शब्द से 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।८२) सूत्र से डट् = अ प्रत्यय होता है। थट् का आगम करने पर पञ्चन् + थट् + अ, डट् डित् होने से थट् के टि अट् का लोप—पञ्चन् + थ् + अ = पञ्चथ। प्रथमैकवचन में पञ्चथम् रूप बनता है। मट् आगम करने पर पञ्चन् + मट् + अ डित् होने से टि अट् का लोप—पञ्चन् + म् + अ। दोनों प्रत्ययों में 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से पञ्चन् के न् का लोप होता है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, अम् आदि करने पर पञ्चमम् रूप बनता हैं।)॥१११॥

यदि ह्येवमात्मका उपसर्गाः, धात्वर्थग्रहणं न कर्तव्यम् ? सत्यमेतत्, तत् क्रियते विस्पष्टार्थम्।

ननु च वतेरव्ययसंज्ञकत्वाद् विभक्तेर्लुक्प्राप्नोति, स कस्मान्न भवति? अव्ययसंज्ञाया अनित्यत्वात् इति न्यासकारः। पदमञ्जरीकारस्तु—'साधनशब्देन शक्तिमद् द्रव्यमुच्यते, न शक्तिमात्रमिति लिङ्गसंख्यायोगादन्वर्थाऽव्ययसंज्ञा न भवतीति।" इदमेव शेखरकारोऽप्याह।

१. अत्र सूत्रे 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) इत्यतो डट् इत्यनुवर्तते। ततः 'नान्ताद-संख्यादेर्मट्' (५।२।४९)इत्यतो 'नान्तादसंख्यादे रिति चानुवर्तते। ननु डट् इतिप्रथमान्तम्, अत्र सूत्रे च षष्ठीग्रहणमपेक्षितम्, आगमत्वसिध्यर्थमिति चेन्न, 'नान्तादि' त्येषा पञ्चमी स्वस्याः परां डट् इति प्रथमां षष्ठीत्वेन प्रकल्पयिष्यति—'तस्मादित्युत्तरस्य' (१।१।६७) इति परि-भाषया। अतएव नान्तादसंख्यादेः डटः थट् इत्यगमो विहित इति बोध्यम्।

'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि'[1] (५।२।८९।१८८९)। पर्यवस्थाता = शत्रुः। अपुत्यं परिपन्थिनम्। (ऋ. १।४२।३) मात्वा परिपरिणौ विदन्। (वा. सं. ४।३४)

(११२) ३४९८ बहुलं छन्दसि। (५-२-१२२) मत्वर्थे विनिः स्यात्। * छन्दोविन्प्रकरणेऽष्ट्रामेखलाद्वयोभयरुजाहृदयानां दीर्घश्चेति वक्तव्यम्[2]। * इति दीर्घः। मंहिष्ठमुभयाविनम्। (ऋ. ८।१।२) शुनमष्ट्राव्यचरत्। (ऋ. १०।८५।३३)

'वेद में शत्रु अर्थ में विद्यमान पर्यवस्थातृ शब्द से स्वार्थ में 'इनि' = इप्रत्यय होता है तथा अवस्थातृ के पन्थ और पर ये दो आदेश होते हैं। 'पर्यवस्थातृ' + इनि, 'अवस्थातृ' का 'पन्थ' आदेश परिपन्थ + इनि। इसी प्रकार अवस्थातृका 'पर' आदेश करने पर परिपर + इनि भसंज्ञा, अलोप करने पर—'परिपन्थिन्' तथा 'परिपरिन्' शब्दों के रूप उदा० में दिय गये हैं। पर्यवस्थाता = शत्रु है।)

उदा० 'अपत्यं परिपन्थिनम्।' 'मात्वा परिपरिणौ वदन्।' द्वितीया एकवचन में अम् तथा द्विवचन में 'औ' प्रत्ययों के रूप हैं।)॥(क)॥

मत्वर्थ में 'विनि' प्रत्यय होता है बहुल रूप से।

(वार्तिककार ने इस विषय में कुछ संशोधन करते हुये यह वार्तिक लिखा है।) *'वेद मे' विन् प्रत्यय के प्रसङ्ग में अष्ट्रा, मेखला, द्वय, उभय, रुजा तथा हृदय—इन शब्दों का दीर्घ आदेश भी होता है—ऐसा कहना चाहिये।*

[नागेशभट्ट ने यह लिखा है कि दीर्घ आदेश केवल—द्वय, उभय तथा हृदय—इन तीन शब्दों का ही मानना चाहिये। क्योंकि 'अष्ट्रा' तथा 'मेखला' तो स्वतः दीर्घ हैं।]

उदा० मंहिष्ठमुभयाविनम्। शुनमष्ट्राव्यचरत्, उभयाविनम्, अष्ट्रावी। उभये स्तः अस्य अस्मिन् वा, अष्ट्रा अस्ति अस्य अस्मिन् वा—इस मत्वर्थ में—उभय से विन्— उभयविन्, दीर्घ—उभयाविन्, द्वितीया एकवचन का रूप है। अष्ट्र + विन,

१. अत्र पर्यवस्थातृशब्दात् स्वार्थे इनि प्रत्ययोऽवस्थातृशब्दस्य च पन्थपर—इत्येतावादेशौ निपात्येते, इनि प्रत्यये भत्वादलोपे परिपन्थिन्, परिपरिन् इति भवति। यत्तु—पन्थि, परि—इत्येतावादेशौ, तत्र भत्वादिलोपो बोध्यः, अन्यथा इकारस्य सवर्णदीर्घापत्तेः। भाषायां तु परिपन्थिशब्दो ऽसाधुरिति हरदत्तो दीक्षितश्च।

२. द्वयोभयहृदयान्येव दीर्घत्वं प्रयोजयन्ति, अन्येषां स्वतो दीर्घत्वादिति बोध्यम्।

*** छन्दसीवनिपौ च[1] वक्तव्यौ।** (वा. ५।२।१०९) ई। र॒थीर॑भूत्। (ऋ.८।१०२।२) सु॒म॒ङ्ग॒लीरि॒यं व॒धूः। (ऋ. १०।८५।३३) मघ॒वानमीमहे (ऋ. १०।१६७।२)।

(११३) ३४९९ तयोर्दार्हिलौ च छन्दसि[2]। (५-३-२०)

दीर्घ प्रथमा एकवचन का रूप है—अष्ट्रावी। अश् धातु से ष्ट्रन् प्रत्यय में 'अष्ट्रा' रूप होता है यह दंष्ट्रा' का पर्यायवाची है। इसी प्रकार मेखलावी, द्वयावी, रुजावी, और हृदयावी रूप बनते हैं।)॥११२॥

* वेद में मत्वर्थ में ई, वनिप्, व तथा मतुप् ये चार प्रत्यय भी कहने चाहिये।*

उदा० ई प्रत्यय—रथीरभूत्। (रथः अस्ति अस्य—इस अर्थ में रथ + ई, भसंज्ञा, अलोप—रथी, प्रातिपदिकत्वात् सु, रु, विसर्ग—रथीः।) सुमङ्गलीरियं वधूः (सुष्ठु मङ्गलम् = सुमङ्गलम् अस्ति अस्याः—इस अर्थ में 'ई' प्रत्यय होता है। लोक में कर्मधारय से मत्त्वर्थक प्रत्यय नहीं होता है किन्तु वेद में हो जाता है सुमङ्गल + ई, सु का विसर्ग—सुमङ्गलीः।)

वनिप् का उदा० मघवानमीमहे। (मघः अस्ति अस्य—इस अर्थ में वनिप् = वन् प्रत्यय, मघ + वन् प्रातिपदिक संज्ञा, अम्, उपधादीर्घ आदि करने पर रूप बनता है—मघवानम्। 'मघ' का अर्थ है—धन्। मतुप् करने पर भी 'मादुपधायाश्च' सूत्र से म् का व् आदेश हो जाने से 'मघवत्' शब्दरूप होता है।

'व' प्रत्यय का उदाहरण है—उद्वा (उद्गत अर्थवाची उद् शब्द से 'व' प्रत्यय तथा अदन्त मान कर टाप् होने से—'उद्वा' रूप बनता है।

इसी 'उद्' शब्द से मतुप् करने पर उद् + मतुप्, 'उगितश्च' (४।१।६) सूत्र से ङीप् 'झयः' (८।२।१०) सूत्र से म् का व्—उद्वती। सिद्धान्तकौमुदी में ये उदाहरण नहीं दिये गये है; किन्तु काशिका आदि में सभी चार प्रत्ययों के उदाहरण दिये गये हैं।)॥क॥

---

१. *केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' (५।२।१०९) इति सूत्रे वार्तिकमिदम्। 'अन्यतरस्यामि' त्यनुवर्तते, चकाराद् व इत्यस्य ग्रहणम्, तेन—ई, वनिप्, व, मतुप् इति चत्वारः प्रत्यया भवन्ति।*

२. *तयोः = इदमः तदश्च यथासंख्यं दा—र्हिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि।*

इदन्तदोर्यथासंख्यं स्तः। इदा हि व उर्पस्तुतिम्। (ऋ. ८।२७।११) तर्हि।

(११४) ३५०० था हेतौ च छन्दसि[१]। (५-३-२६) किमस्था स्याद्धेतौ प्रकारे च। कुथा ग्रामं न पृच्छसि? (ऋ. १०।१४६।१) कुथा दाशेम?

(११५) ३५०१ पश्च पश्चा च छन्दसि[२]। (५-३-३३) अवरस्य

उन = पूर्वसूत्रोक्त इदम् तथा तत् शब्दों से क्रमश 'दा' तथा 'र्हिल्' प्रत्यय वेद में काल अर्थ में होते हैं।

उदा० इदा हि व उपस्तुतिम्। (अस्मिन् काले—इस अर्थ में इदम् से दा प्रत्यय, 'इदम इश्' (५।३।३) से इदम् का इश्, शित् होने से सम्पूर्ण के स्थान पर इ आदेश होता है—इदा, प्रातिपदिकसंज्ञा किन्तु अव्यय संज्ञा होने से विभक्तिलोप—इदा)

तर्हि। (तस्मिन् काले—इस अर्थ में तत् + र्हिल्, 'त्यदादीनामः' (७।२।१०२) से 'त्' का अत्व और 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप, विभक्ति का लुक् अव्यय होने से—तर्हि।) (सूत्र में 'च' का उल्लेख होने से अन्य प्राप्त प्रत्यय भी वेद में होते हैं अतः—इदानीम्, तदानीम् आदि रूप भी होते हैं।)॥११३॥

हेतु अर्थ में तथा प्रकार अर्थ में वर्तमान 'किम्' शब्द से वेद में 'था' प्रत्यय भी होता है।

उदा० 'कथा ग्रामं न पृछसि।' केन हेतुना—इस अर्थ मं 'किम्' से 'था' प्रत्यय 'किमः कः' (७।२।१०३) सूत्र से 'किम्' का 'क' आदेश 'कथा'। कथा दाशेम—यहाँ 'केन प्रकारेण' इस अर्थ में 'था' प्रत्यय होता है) रूपसिद्धि की पूर्वोक्त प्रक्रिया ही है। अव्यय होने से विभक्ति का लुक् होता है॥११४॥

वेदविषय में 'अस्ताति' प्रत्यय के अर्थ में 'अवर' के स्थान पर 'पश्च' तथा 'पश्चा' शब्द निपातित होते हैं। (भाव यह है कि 'अवर' के स्थान पर 'पश्च' यह आदेश तथा 'अ' और 'आ' ये दो प्रत्यय होते हैं—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' (५।३।२७) इस सूत्र से विधीयमान 'अस्ताति' प्रत्यय स्वार्थ में होता है।)

---

१. किंशब्दाद्धेतौ वर्तमानात् 'था' प्रत्ययो भवति चकारात् प्रकारवचने च छन्दसि।

२. पश्च-पश्चा-शब्दौ निपात्येते छन्दसि विषये अस्तातेरर्थे। चकारात् 'पश्चात्' इत्यपि भवति। अवरस्य पश्चभावो ऽकाराकारौ च प्रत्ययौ। उदा. पुरा व्याघ्रो पश्च सिंहः, पश्चा सिंहः पश्चात् सिंहः इति काशिकाशयः।

अस्तात्यर्थे निपातौ। पश्च हि सः। नो ते पश्चा।

'तुश्छन्दसि'[1] (५।३।५९।२००७) तृजन्तात्तृन्नन्ताच्च इष्ठन्नीयसुनौ स्तः। आसुतिं करिष्ठः। (ऋ. ७।९७।७) दोहीयसी धेनुः।

(११६) ३५०२ **प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल्छन्दसि**[2]। (५-३-१११) इवार्थे। तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा। (ऋ. ५।४४।१)

उदा० 'पश्च हि सः।' अवर से सप्तमी, पञ्चमी अथवा प्रथमा विभक्ति के अर्थ में 'अस्ताति' इस स्वार्थिक प्रत्यय के प्रसङ्ग में 'अवर' का 'पश्च' आदेश, अ प्रत्यय—पश्च। और 'पश्च' आदेश 'आ' प्रत्यय होने से 'पश्चा' रूप होता है। अव्यय होने से दोनों में विभक्तिलुक् होता है॥११५॥

'तुः' इससे तृच् तथा तृन् दोनों का ग्रहण करना चाहिये। अतः तृजन्त तथा तृन्नन्त शब्दों से वेदविषय में अजादि = इष्ठन् तथा ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

उदा० 'आसुतिं करिष्ठः।' (अतिशय अर्थ में कर्तृ शब्द से इष्ठन् प्रत्यय करने पर 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६।४।१९४) सूत्र से 'तृ' का लोप हो जाने पर कर् + इष्ठ, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, रुत्व विसर्ग—करिष्ठः)

'दोहीयसी धेनुः'। (अनयोः अतिशयेन दोग्ध्री—इस अर्थ में दोग्ध्री शब्द से 'ईयसुन्' प्रत्यय, लिङ्गविशिष्ट परिभाषा के बल से स्त्रीलिङ्ग से भी प्रत्यय, भसंज्ञा, 'भस्याढे तद्धिते'' (१२०८) से ङीप् का लुक् 'तुरिष्ठेमयस्सु' से 'तृ' का लुक्—दोह् + ईयस्, यहाँ निमित्तभूत 'त्' के लोप के कारण नैमित्तिक धत्व तथा कुत्व भी समाप्त हो जाते हैं जिससे—दोह् यही बचता है। स्त्रीलिङ्ग में पुनः ङीप् होने से दोहीयस् + ई = दोहीयसी, प्रातिपदिक संज्ञा, सु, उसका लोप करने पर रूप 'दोहीयसी' बनता है॥(क)॥

प्रत्न, पूर्व, विश्व तथा इम—इन शब्दों से 'इव' के अर्थ में वेदविषय में 'थाल्' प्रत्यय होता है।

उदा० तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा। (प्रत्न इव—इस अर्थ में थाल् प्रत्यय। अव्यय होने से विभक्ति का लुक्। सभी उदाहरण इसी प्रकार बनते हैं॥११६॥

---

१. 'तुः' इति तृन्तृचोः सामान्येन ग्रहणम्। त्रन्ताच्छन्दसि विषये अजादी (= इष्ठन् ईयसुन् इति) प्रत्ययौ भवतः। पूर्वेण अजादी गुणवचनादेव (५।३।५८) सूत्रेण नियमे कृते प्रकृत्यन्तराण्यपि अभ्यनुज्ञायन्ते—त्रन्तादप्यजादी भवत इति।

२. प्रत्न-पूर्व-विश्व-इम-इत्येतेभ्य इवार्थे 'थाल्' प्रत्ययो भवति।''इम शब्द इदमा समानार्थः प्रकृत्यन्तरमिति हरदत्तः।

(११७) ३५०३ अमु च छन्दसि[1] (५-४-१२) किमेत्तिङव्ययघा-दित्येव। प्र तं नय प्रतुरम्। (ऋ. १०।४५।९)

(११८) ३५०४ वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि[2]। (५-४-४१) स्वार्थे। यो नौ दुरेवो वृकतिः। (ऋ. ४।४१।४) ज्येष्ठतातिं बर्हिषदम्। (ऋ. ४।४४।१)

(११९) ३५०५ अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि[3]। (५-४-१०३)

किम्, एदन्त, तिङन्त तथा अव्यय से जो 'घ' प्रत्यय होता है उसे 'किमेत्तिङव्ययघ' कहते हैं, ऐसे शब्द से अद्रव्य के प्रकर्ष अर्थ में वेदविषय में 'अमु' प्रत्यय होता है, च के कारण पूर्वसूत्रोक्त (किमेत्तिङव्यय० ५/४/११) सूत्र से 'आमु' प्रत्यय भी होता है।

उदा० प्र तं नय प्रतरम्। (प्रकर्ष का प्रकर्ष अर्थात् अतिशय प्रकर्ष अर्थ में 'प्र' शब्द से 'तरप्' प्रत्यय करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से 'अमु' = अम् प्रत्यय, भ संज्ञा, 'तर' के रेफ का अलोप, अव्यय हो जाने से विभक्तिलुक्। आमु का उदा० प्रतरां नय॥११७॥

प्राशस्त्यविशिष्ट स्वार्थ में 'वृक' तथा 'ज्येष्ठ' इन शब्दों से (क्रमशः) तिल् तथा तातिल् प्रत्यय होते हैं।

उदा० यो नो दुरेवो वृकतिः। ज्येष्ठतातिं वर्हिषदम्। (प्रशस्तः वृकः, प्रशस्तः ज्येष्ठः—इस अर्थ में तिल् करने पर वृकतिः प्रथमा एकवचन का रूप है। तातिल् करने पर ज्येष्ठतातिम् द्वितीया एकवचन में रूप है॥११८॥

अन्नन्त और असन्त नपुंसकलिङ्ग वाले तत्पुरुष समास वाले शब्द से टच् यह

१. 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५।४।११) किम एकारान्तात्तिङन्ताद् अव्ययेभ्यश्च यो विहितो 'घः' सः किमेत्तिङव्ययघः, तदन्तात्प्रातिपदिकाद् अद्रव्यप्रकर्षे आमु प्रत्ययो भवति। इदं सर्वमनुवर्तते। किमेत्तिङव्ययघादद्रव्यप्रकर्षे अमु प्रत्ययो भवति चकारादामु च। एवञ्च वेदविषये द्वावपि प्रत्ययौ भवतः। प्रतरम् इत्यादौ प्रकर्षप्रकर्षे तरप्।

२. 'सस्नौ प्रशंसायाम्' (५।४।४०) इत्यतः 'प्रशंसायाम्' इत्यनुवर्तते। तेन प्राशस्त्यविशिष्टे स्वार्थे वर्तमानाभ्यां वृकज्येष्ठशब्दाभ्यां यथासंख्यं तिल् तातिलौ प्रत्ययौ भवतः वेदविषये। रूपपोऽपवादः। वृकतिः = प्रशस्तःवृक इत्यर्थः।

३. अन्नन्तात् असन्ताच्च नपुंसकलिङ्गात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये। अत्र वार्तिकम् —'अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वा वचनम्' इतिवचनं भाष्ये काशिकायाञ्च विद्यते। तेन वैकल्पिको विधिः। किन्तु दीक्षितेन नैवाल्लिखितं न वा व्याख्यातम्।तत्र हेतुः छन्दसि सर्वविधीनां विकल्पः।

तत्पुरुषाट्टच् स्यात्समासान्तः। ब्रह्मसामं भवति। (तै. सं. १।८।१८।१) देवच्छन्दसानि। (मै. सं. ३।२।९)

(१२०) ३५०६ बहुप्रजाश्छन्दसि च[1]। (५-४-१२३) बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश। (ऋ. १।१६४।३२)

(१२१) ३५०७ छन्दसि च[2]। (५-४-१४२) दन्तस्य दतृशब्दः स्याद्बहुव्रीहौ। उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति।

समासान्त प्रत्यय होता है।

उदा० ब्रह्मसामं भवति। देवच्छन्दसानि। (ब्रह्मणः साम—इस अर्थ में तत्पुरुष समास, विभक्तिलुक् करने पर ब्रह्मसामन् + टच् = अ, टिलोप, नपुंसकलिङ्ग में सु, अम्, पूर्वरूप—ब्रह्मसामम्। देवानां छन्दांसि—इस अर्थ में तत्पुरुष समास के बाद टच् प्रत्यय, नपुंसकलिङ्ग बहुवचन का रूप है।)॥११९॥

वेदविषय में 'बहुप्रजाः' यह रूप निपातित होता है।

उदा० 'बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश।' (बह्व्यः प्रजाः यस्य—इस अर्थ में बहुव्रीहि करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से 'असिच्' = अस् प्रत्यय करने पर भसंज्ञा, अलोप—बहुप्रजस्, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) सूत्र से उपधा का दीर्घ, सु का रुत्व, विसर्ग—'बहुप्रजाः' रूप बनता है॥१२०॥

वेदविषय में बहुव्रीहि समास में दन्त का दतृ आदेश (समासान्त में) होता है।

उदा० उभयतोदतः प्रतिगृह्णाति। (उभयतो दन्ता यस्य—इस अर्थ में बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप—उभयतोदन्त। दन्त का दतृ आदेश, शस् = अस् प्रत्यय, स् का रुत्व विसर्ग—'उभयतोदतः' रूप बनता है॥१२१॥

१. बह्व्यः प्रजाः यस्येति बहुव्रीहिः, अत्र असिच् प्रत्ययो निपात्यते, "यस्येति च" इत्यकारलोपः, 'अत्वसन्तस्य' इति दीर्घः—बहुप्रजाः इति।

२. 'वयसि दन्तस्य दतृ'(५।४।१४१) इत्यतो 'दन्तस्य दतृ' इत्यनुवर्तते। छन्दस्यपि भवति। 'नद्यृतश्च' (।४।१५३) नद्यन्ताद् बहुव्रीहेर्ऋकारान्ताच्च कप् प्रत्ययो भवति। इत्यनुवर्तते, 'न संज्ञायाम्' (५।४।१५) इत्यतो 'न' इत्यनुवर्तते। तेन छन्दसि विषये ऋकारान्तात् कप् न भवतीत्यर्थः।

(१२२) ३५०८ ऋतश्छन्दसि[२१]। (५-४-१५८) ऋदन्ताद् बहुव्रीहेर्न कप्। हता माता यस्य हतमाता। (अ. वे. २।३२।८)

।। इति पञ्चमोऽध्यायः ।।

—०—

ऋदन्त बहुव्रीहि से वेदविषय में कप् प्रत्यय नहीं भी होता है।

उदा० हता माता यस्य सः—हतमाता। (बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप, पुंवद्भाव, हतमातृ, "नद्यृतश्च" (५।४।१५३) सूत्र से प्राप्त कप् का निषेध, ऋ का अनङ् उपधादीर्घ आदि करने पर प्रथमा एकवचन का रूप है॥१२२॥

।।इस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के पञ्चम अध्याय के वेद विषयक सूत्रों की 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या सम्पूर्ण हुई।।

—०—

षष्ठोऽध्यायः

'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१।२१७५)

*** छन्दसि वेति वक्तव्य'म्। *** यो जा॒गार॑। दाति॑ प्रि॒याणि॑। (ऋ. ४।८।३)

(१२३)३५०९ तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य[२]। (६-१-७)

(षष्ठ अध्याय प्रथमपाद का प्रथम सूत्र है) 'एकाचो द्वे प्रथमस्य'। (६।१।१) (इन तीनों पदों की अनुवृत्ति आगे के सूत्रों में होती है ६।१।१२ तक। इस का अर्थ है धातु के प्रथम एकाच् का द्वित्व होता है। इस सामान्य सूत्र के विषय में यह वार्तिक है)

* 'द्विर्वचन के प्रकरण में वेद में विकल्प समझना चाहिये अर्थात् द्वित्व होता है और नहीं भी होता है।"*

उदा० यो जागार। (जागृ धातु से लिट्, प्रथम पुरुष एकवचन में तिप्, णल् = अ, द्वित्व नहीं होने पर अन्त्य ऋ की वृद्धि आ, रपर करने पर यह रूप बनता है—जागार। जब द्वित्व होता है तब—'जजागार' ऐसा रूप भी बनता है। दाति प्रियाणि। (यह दा धातु लट् तिप् शप् का श्लु, द्वित्व न होने पर यह रूप है। द्वित्व होने पर—ददाति रूप होता है।) लोक में 'द्वित्ववाले' रूप ही होते है।

सिद्धान्त-कौमुदी में यह वार्तिक 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' से सम्बद्ध बताया गया है; किन्तु काशिकावृत्ति तथा महाभाष्य में यह वार्तिक 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) सूत्र पर उपलब्ध होता है। द्वित्वसम्बन्धी चर्चा होने से यहाँ कोई विसङ्गति नहीं माननी चाहिये। (क)

(तुजादि शब्द जिनके अभ्यास का दीर्घ देखा गया है वे यहाँ तुजादि समझने चाहिये। इसी लिये लिखा है।) तुजादि यह आकृतिगण है। तुजादि शब्दों के अभ्यास

---

१. एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६।१।१) इति सूत्रस्थं पदमग्रे अधिकृतं वर्तते 'ष्यङ् सम्प्रसारणम्'(६।१।१२) सूत्रपर्यन्तम्। तेनाग्रिमैः सूत्रैः प्रथमस्य एकाचः द्वित्वं विधीयते। महाभाष्ये काशिकायाञ्च 'लिटि धातोरनभ्यास्य' (६।१।८) इति सूत्रे प्रस्तुतं वार्तिकं विद्यते। काशिकायां "द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम्' इति पठ्यते। भाष्ये तु— "अभ्यासप्रतिषेधानर्थक्यं छन्दसि वा वचनादि" ति।

२. भाष्यकृता इदं सूत्रं प्रत्याख्यातम् —तुजादिषु छन्दः प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यम्, छन्दसि

तुजादिराकृतिगणः। प्रभ॑रा तूतु॑जानः। (ऋ. १।३।६) सू॒र्ये मामहा॒नम्। दा॒धा॒र यः पृ॑थि॒वीम्। (ऋ ३।३२।८) स तू॑ताव। (ऋ. १।९४।२)

(१२४) ३५१० बहुलं छन्दसि[1]। (६-१-३४) ह्वः सम्प्रसारणं स्यात्। इन्द्र॑माहु॒व ऊ॒तये॑। (ऋ. १।१११।४)

का दीर्घ होता है। (यह स्थिति वैदिक प्रयोगों में ही देखी जाती है। अतः यह सूत्र यहाँ पढ़ा गया। इसमें टिप्पणीस्थ भाव्य तथा काशिकावृत्ति प्रमाण हैं।)

उदा० प्रभरा तूतुजानः। (तुज् + लिट् = कानच् = आन, द्वित्व, हलादिशेष, अभ्यास का दीर्घ—तूतुजान, कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, विसर्ग—'तूतुजानः' रूप बनता है।)

सूर्ये मामहानम्। (मह + लिट् = कानच्, शेष पूर्ववत् द्वितीया एकवचन है।)

दाधार पृथिवीम्। (धृ + लिट् तिप् = अ, द्वित्व,अत्व, रपर, अभ्यासलोप, ऋ की वृद्धि आ, रपर, अभ्यास का दीर्घ।)

स तूताव। (तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७।३।९५) सूत्र में पठित 'तु' से लिट्, तिप् = णल् = अ, द्वित्वादि के बाद, ऊ की वृद्धि औ, औ का आव् आदेश, 'तु' अभ्यास का दीर्घ होता है—तूताव)।।१२३।।

('ह्वः सम्प्रसारणम्' ६।१।३२ से 'ह्वः' की अनुवृत्त होती है।) वेदविषय में 'ह्वेञ्' का सम्प्रसारण बहुलरूप से होता है।

उदा० इन्द्रमाहुव ऊतये। (आङ् पूर्वक ह्वेञ् से लट् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन में इट् प्रत्यय "बहुल छन्दसि' (२।४।७३) से शप् का लुक् 'व्' का सम्प्रसारण उ, ए का पूर्वरूप—आहु + इ, उ का उवङ् 'टित आत्मनेपदानाम्' सूत्र से इ का एत्व—आहुवे। सम्प्रसारण न होने का उदाहरण है—ह्वयामि मरुतः शिवान्।)।।१२४।।

तुजादीनां दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्। अस्मिश्चास्मिंश्च प्रत्यय इति वक्तव्यम्। अनारम्भो वा पुनश्छन्दसि दीर्घत्वस्य न्याय्यः,कुतः ? "अपरिगणतत्वात्।" न हि छन्दसि दीर्घस्य परिगणनं कर्तुं शक्यम्। किं कारणम् ? 'अन्येषां च दर्शनात्।' येषामपि दीर्घत्वं नारभ्यते तेषामपि छन्दसि दीर्घत्वं दृश्यते। तद् यथा—पूरुषः, नारकः। 'अनेकान्तत्वाच्च' येषां चारभ्यते तेषामपि न दृश्यते—मामहानः, ममहान इति।

१. ह्वः सम्प्रसारणम्' (६।१।३३) इत्यनुर्वते। छन्दसि ह्वः सम्प्रसारणं बहुलं भवति।

*** ऋचि त्रेरुत्तरपदादिलोपश्च छन्दसि[1]। (वा.६।१।३७) * ऋच्शब्दे परे त्रेः सम्प्रसारणमुत्तरपदादेर्लोपश्चेति वक्तव्यम्। तृचं सूक्तम्। छन्दसि किम्–त्र्यृचानि।**

*** रयेर्मतौ बहुलम्[2]। * (६।१।३७ वा.) रेवान्। रयि॒मान्पु॑ष्टि॒वर्ध॑नः। (वा. सं. ३।४०)**

(१२५) ३५११ चायः[3] की। (६-१-३५) न्यु॒ न्यं चि॒क्युर्न निचि-

---

* वेद में ऋच् शब्द परे रहने पर 'त्रि' का सम्प्रसारण होता है और उत्तर पद के आदि अक्षर का लोप भी होता है—ऐसा कहना चाहिये।*

उदा० तृच् सूक्तम्। (तिस्रः ऋचः यस्मिन् तत्—इस अर्थ में बहुव्रीहि समास, विभक्तिलोप—त्रि + ऋच्, 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे'—सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय, प्रस्तुत वार्तिक से रेफ का सम्प्रसारण ऋ, 'इ' का पूर्वरूप—तृ + ऋच् + अ, उत्तरपद के आदि अक्षर ऋ का लोप—तृ + च् + सु = अम्।) वेद में ही होता है—इसका क्या फल है? त्र्यृचानि। (त्रि + ऋच् + अ, इ का यण् य्, बहुवचन का लौकिक रूप है, ऋ का लोप नहीं होता है।

* वेदविषय में मतुप् परे रहते 'रयि' शब्द का सम्प्रसारण बहुल रूप से होता है।* (क)

उदा० रेवान्। (रयि + मत्,य् का सम्प्रसारण इ। इ का पूर्वरूप र + इ + मत्, गुण—रेमत् 'छन्दसीरः' (८।२।१५) सूत्र से म का वत्व रेवत्, सु, नुम्, उपधादीर्घ आदि करने पर—रेवान्।) सम्प्रसारण के अभाव का उदा० रयिमान् पुष्टिवर्धनः।।ख।।

वेदविषय में 'चाय्' का 'की' यह आदेश बहुलरूप से होता है।

उदा० न्य न्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्। (चाय् + लिट् = झि = उस्, चाय् का 'की' आदेश, द्वित्व, ह्रस्व, 'कुहोश्चुः' सूत्र से चुत्व चि की + उस्, ई का यण्, स् का रुत्व विसर्ग—चिक्युः। नि उपसर्ग के साथ —निचिक्युः।) यह रूप लिट् = झि के 'उस्' आदेश का रूप है।

---

१. 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (६।१।३७) इति सूत्रे भाष्ये काशिकायां चेदं वार्तिकम्।

२. इदमपि वार्तिकं 'न सम्प्रसारणे' सूत्रे भाष्ये काशिकायाञ्च। बहुलग्रहणाद् विकल्पः।

३. 'छन्दसि बहुलम्' (६।१।३४) इत्यनुवर्तते। तेन विकल्पः।

क्युरन्यम्। (ऋ. १।१६४।३८) लिटि उसि रूपम्।

बहुलग्रहणानुवृत्तेर्नेह। अग्निं ज्योतिर्निचाय्य। (वा. सं. ११।१)

(१२६) ३५१२ अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याज-श्राताश्रितमाशीराशीर्ताः[1]। (६-१-३६) एते छन्दसि निपात्यन्ते। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। (ऋ. ६।६९।८) स्पर्धेर्लङि आथाम्। अर्कमानृचुः। (ऋ.१।१९।४) वसून्यानृहुः। (अथर्व.२।३५।१) अर्चेरर्हेश्च लिट्युसि।

इसमें 'बहुलम्' की अनुवृत्ति होती है अत: यह 'की' आदेश नहीं भी होता है।—उदा० अग्निं ज्योतिर्निचाय्य। (नि उपसर्गपूर्वक चाय् + क्त्वा = ल्यप् = य निचाय् य, 'की' आदेश नहीं होता है। अव्यय हो जाने से विभक्ति का लुक् हो जाता है।)॥१२५॥

वेदविषय में ये रूप निपातित होते हैं—अपस्पृधेथाम्, आनृचुः, आनृहुः, चिच्युषे, तित्याज, श्राताः, श्रितम्, आशीर, आशीर्तः।

क्रमशः उदा० (१) इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। ('स्पर्ध संघर्षे' धातु से लङ् के आथाम् प्रत्यय में द्वित्व स्पर्ध स्पर्ध् + आथाम्, अट्, हलादिशेष 'शर्पूर्वाः खयः' से लोप, अ प स्पर्ध् + आथाम्, रेफ का सम्प्रसारणऋ,प के अ का लोप करने से प् + ऋ = पृ, शप् = अ—अ प स्पृध् + अ + आथाम्, आ का इय्, गुण, यलोप आदि करने पर रूप होता है।

लोक में —आस्पर्धेथाम् यह रूप होता है। (कुछ विद्वान् अपपूर्वक स्पर्ध से लङ् = आथाम् में रेफ का सम्प्रसारण और अ का लोप करके भी अपस्र्धेथाम् यह सिद्ध करते हैं।)

(२) आनृचुः। अर्कमानृचुः। ('अर्च पूजायाम्' धातु से लिट् = झि = उस्, अर्च + उस् इसमें रेफ का सम्प्रसारण ऋ तथा अ का लोप करने पर ऋच् + उस् द्वित्व, ऋ का अत्व, रपर, हलादिशेष, 'अत आदेः' (७।४।७०) सूत्र से अ का दीर्घ आ ऋच् + उस् 'तस्मान्नुड् द्विहलः' (४।४।७१) सूत्र से नुट् = न् का आगम, स् का रुत्व विसर्ग करनेपर—'आनृचुः' रूप बनता है। लोक में 'आनर्चुः' ऐसा रूप होता है।

(३) आनृहुः। वसून्यानहुः। 'अर्ह पूजायाम्' धातु से लिट् = झि = उस् र का सम्प्रसारण ऋ, अलोप,द्वित्व, दीर्घ, ऋ को नुट्—ये सभी कार्य इसमें भी होते हैं—आनृहुः। लोक में 'आनर्हुः' रूप होता है।)

---

१. *'बहुलं छन्दसि' (६।१।३४) इत्यतः 'छन्दसि' इत्यनुवर्तते।*

चिच्युषे। (ऋ. ४।३०।२२) च्युङो लिटि थासि। यस्तित्याज। (ऋ. १०।७१।२३) त्यजेर्णलि।

श्रातास्त इन्द्र सोमाः। (मै.सं.१।९।१) श्रिता नो ग्रहाः। श्रीञ् पाके निष्ठायाम्। आशिरं दुहे। मध्यत आशीर्तः। (ऋ. ८।२।९) श्रीञ एव क्विपि निष्ठायां च।

---

(४) चिच्युषे। ('च्युङ गतौ' धातु से लिट् = थास् = से—च्यु + से, द्वित्व, अभ्यास के 'य्' का सम्प्रसारण 'इ' उ का पूर्वरूप तथा इट् का अभाव निपातित होता चिच्यु + से, मूर्धन्य करने पर 'चिच्युषे' बनता है। लोक में 'चुच्युविषे' रूप होता है।

(५) तित्याज। यस्तित्याज। ('त्यज हानौ' धातु से लिट् = तिप् =णल् = अ, द्वित्व, अभ्यास के य् का सम्प्रसारण 'इ' तिज् त्यज् + अ, हलादिशेष, उपधादीर्घ करने पर = तित्याज रूप बनता है। लोक में 'तत्याज' ऐसा रूप होता है।)

(६) श्राताः। ('श्रीञ् पाके' इस धातु से निष्ठा 'क्त' प्रत्यय, निपातन से श्री धातु का 'श्रा' आदेश, प्रथमा बहुवचन में जस्, स् का रुत्व विसर्ग—श्राताः) 'श्रातास्त इन्द्रसोमाः।'

(७) श्रितम्। 'श्रिता नो ग्रहाः।' (श्रीञ् पाके' से निष्ठा 'क्त' प्रत्यय परे रहते निपातन से धातु का ह्रस्व होता है। ये दोनों 'श्री' तथा 'श्रि' आदेश अलग-अलग विषयों में किये जाते हैं, सर्वत्र दोनों आदेश नहीं होते हैं। इसीलिये नागेश ने लिखा है—'आद्ये श्राभावः, अन्त्ये ह्रस्वः, निपातनात्।'' (शेखर)

(८) आशीरम्। 'आशिरं दुहे।' (आङ् उपसर्गपूर्वक श्रीञ् से क्विप् प्रत्यय परे 'श्री' का 'शीर्' आदेश होता है—आशीर् + क्विप्, सर्वापहारी लोप द्वितीया एकवचन में—आशीरम्। कहीं-कहीं 'शिर्' आदेश मानकर—'आशिरम्' रूप भी होता है। सिद्धान्तकौमुदी में यही ह्रस्व वाला रूप दिया गया है; किन्तु काशिका में 'आशीरम्' रूप पढ़ा गया है।)

(९) आशीर्तः। 'मध्यत आशीर्तः।' (श्रीञ् पाके इसी के निष्ठा= त प्रत्यय में रूप है। आङ् पूर्वक श्री से क्त, 'शिर्' आदेश, 'हलि च' (८।२।७७) सूत्र से उपधा का दीर्घ, प्रथमैकवचन का रूप है। नत्व का अभाव भी निपातित होता है)॥१२६॥

(१२७) ३५१३ **खिदेश्छन्दसि।**[1] (६-१-५२)। √खिद दैन्ये। अस्यैच आद्वा स्यात्। चिखाद[2]। चिखेदेत्यर्थः।

(१२८) ३५१४ **शीर्षश्छन्दसि**[3]। (६-१-६०) शिरःशब्दस्य शीर्षन् स्यात्। शी॒र्ष्णः शी॒र्ष्णो॑ जग॑तः।

(१२९) ३५१५ **वा**[4] **छन्दसि।** (६-१-१०६) दीर्घाज्जसि इचि च

'खिद दैन्ये' इस धातु के 'एच्' के स्थान पर 'आ' आदेश विकल्प से होता है वेदविषय में।

उदा० चिखाद, चिखेद। (खिद् + लिट् = तिप् = णल = अ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, उपधागुण—चिखेद के 'ए' का 'आ' करने पर 'चिखाद' रूप भी होता है। इसके विषय में नागेश का मत टि० में देखें।।१२७।।

वेदविषय में 'शिरः' इसका समानार्थक 'शीर्षन्' यह दूसरा शब्दरूप निपातित होता है। (काशिकाकार ने यह स्पष्ट लिखा है कि यह आदेश नहीं अपितु शब्दान्तर है—"न पुरयमादेशः शिरःशब्दस्य। सोऽपि हि छन्दसि प्रयुज्यत एव।' (प्रस्तुत सूत्र पर काशिका)

उदा० शीर्ष्णः शीर्ष्णो जगतः। (शिरस् + जस् = अस्, शीर्षन् निपातन, 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) से अल्लोप, 'रषाभ्यां णो नः' से णत्व—शीर्ष्णस्, स् का रुत्व विसर्ग। ओस् प्रत्यय में 'शीर्ष्णोः' यह रूप होता है।)।।१२८।।

वेदविषय में दीर्घवर्ण से जस् और इच् (प्रत्याहार का कोई) वर्ण परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घ विकल्प से होता है।

---

१. 'विभाषा लीयतेः' (६।१।५१) इत्यतो 'विभाषा' इत्यनुवर्तते 'आदेच उपदेशेऽशिति' (६।१।४५) इत्यतः 'आदेच' इतिच।

*२. चिखाद—इति क्वाचित्कोऽपपाठ इति शेखरः। एतन्मूलं पदमञ्जरी—"**चिखादेति।** व्यत्ययेन परस्मैपदम्, आत्वस्यानैमित्तकत्वाद् 'द्विर्वचनेऽचि' इति स्थानिवत्त्वाभावादभ्यासस्येवर्णान्तता न भवति। अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। कथम् ? खादेः—चखाद, खिदेश्चिखेदेति, अनेकार्थत्वाद्धातूनामर्थभेदोऽप्यकिञ्चित्कर" इति पदमञ्जरी। एवञ्च चखाद, चिखेद-इत्येव साधु न तु चिखाद इति बोध्यम्। एवञ्च मूले प्रकाशितःपाठश्चिन्त्यः।*

३. "शीर्षन्" इति शब्दान्तरं शिरः शब्देन समानार्थं छन्दसि विषये निपात्यते, न पुनरयमादेशः शिरः शब्दस्य। सोऽपि छन्दसि प्रयुज्यते एवेति काशिका।

४. 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६।१।१०२) इति, 'नादिचि' (६।१।१०४) इत्यत 'इचि' इति, 'दीर्घाज्जसि' (६।४।१०५) इति चानुवर्तते।

पूर्वसवर्णदीर्घो वा स्यात्। वाराही। वाराह्यौ। मानु॑षी॑रीळते॒ विशः॑। (ऋ. ५।८।३)

उत्तरसूत्र[2]द्वयेऽपीदं वाक्यभेदेन सम्बध्यते। **तेनामि** (६।१।१०७) **पूर्वत्वं वा स्यात्।** शमीं च शम्यं च। (काठ. ३६।३) सूर्म्यं सुषि॒रामि॑व। (म.भा. पस्पशा.)

'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८।३३०) इति पूर्वरूपमपि वा। इज्यमानः। यज्यमानः (अथर्व. १८।१।३९)

(१३०) ३५१६ **शेश्छन्दसि बहुलम्**[3]। (६-१-७०) लोपः स्यात्।

उदा० वाराही, वाराह्यौ। (वाराही +औ, पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होने पर यण् होता है, पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर दोनों का 'ई' आदेश हो जाता है। 'मानुषीरीलते विशः।' (मानुषी + जस् = अस्, पूर्वसवर्णदीर्घ—मानुषीस्, स् का रुत्व विसर्ग—'मानुषीः' किन्तु 'ईलते' परे विसर्ग न होने से 'रेफ' ही रहता है)

'वा'= विकल्प का सम्बन्ध आगे वाले दोनों 'सूत्रों' अर्थात् 'अमि पूर्वः' तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०७—८) में भी होता है। इस कारण वेद में अम् परे रहते भी विकल्प से पूर्वरूप होता है—शमीं च, शम्यं च। (शमी + अम्, पूर्वरूप न होने पर यण् होता है।) सूर्म्यं सुषिरामिव। (सूर्मी + अम्, पूर्वरूप न होने पर यण् होता है—सूर्म्यम्, पूर्वरूप होने पर 'सूर्मीम्' रूप बनता है।)

'सम्प्रसारणाच्च' इससे पूर्वरूप भी विकल्प से होता है—इज्यमानः, यज्यमानः। (यज् + लट् = शानच्, कर्म अर्थ में 'सार्वधातुके यक्' से यक् आगम 'आने मुक्' सूत्र से मुक् = म् आगम यज् य + म् + आन, 'वचिस्वपियजादीनां किति' (६।१।१५) इस सूत्र से य् का सम्प्रसारण इ, 'सम्प्रसारणाच्च' से विकल्प से 'अ' का पूर्वरूप—इज्यमानः। पूर्वरूप न होने पर इअज् + य +मान में सम्प्रसारण इ का यण् होने से पुनः 'य्' हो जाने से—'यज्यमानः' रूप ही बनता है।।१२९।।

वेदविषय में 'शि' इसका बहुल रूप से लोप होता है।

---

१. 'ईडते' इत्यत्र डकारस्य ळकारादेशश्छन्दसि। तदुक्तं प्रातिशाख्ये—
'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणः सम्प्रयुक्तः॥ (ऋ. प्रा. १।५२)

२. 'अमि पूर्वः' (६।१।१०७) 'सम्प्रसारणाच्च' (६।१।१०८) इति सूत्रद्वयेऽस्यानुवृत्त्या अनयोः सूत्रयोरपि बाहुल्येन प्रवृत्तिः। उदाहरणेषु स्पष्टम्।

३. 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) इत्यतो 'लोप' इत्यनुवर्तते।

या ते गात्राणाम्। ता ता पिण्डानाम्।

***एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम्** * (वा. ६।१।९४) अपां त्वेमन्। (मै. सं. २।७।१८।१) अपां त्वोद्मन्। (मै. सं. २।७।१८।१)

(१३१) ३५१७ **भय्यप्रवय्ये च छन्दसि**[1] (६-१-८३) बिभेत्यस्मादिति भय्यः। वेतेः प्रवय्या इति स्त्रियामेव निपातनम्। प्रवेयमित्यन्यत्र। छन्दसि किम्–भेयम्। प्रवेयम्।

उदा॰ 'या ते गात्राणाम्।' (यानि—यत् + जस् = शि, शि का लोप कर देने पर भी 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१।१।६२) सूत्र के अनुसार प्रत्यय परे मान कर 'त्यदादीनामः' से 'द्' का अत्व, पूर्वरूप, 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।५२) से नुम् आगम, ''सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) से उपधादीर्घ होने पर 'यान्' इस रूप में 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।१।७) सूत्र से पदान्त न् का लोप हो जाता है—या। इसी प्रकार 'ता ता पिण्डानाम्।' (तानि तानि—यहाँ भी शि का लुक् करने के बाद प्रत्ययलक्षण से सारी प्रक्रिया की जाती है।)

* वेदविषय में एमन् आदि शब्द परे रहते पररूप विकल्प से होता है। *

उदा॰ अपां त्वेमन्, अपां त्वोद्मम्। (त्वा + एमन्, त्वा + ओद्मन्, वृद्धि प्राप्त है उसे बाधकर विकल्प से पररूप होता है। पक्ष में वृद्धि करने पर—त्वैमन्, त्वौद्मम् भी होते हैं।)॥१३०॥

वेदविषय में 'भय्य' और 'प्रवय्य' ये शब्द निपातित होते हैं।

उदा॰ बिभेत्यस्मात्—इस विग्रह में 'भी' धातु से अपादान अर्थ में यत् प्रत्यय परे रहते 'अय्' आदेश निपातित होता है—भ् अय् + य, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु आदि करने पर 'भय्यः' रूप बनता है।) 'वी' इससे 'प्रवय्या' यह स्त्रीलिङ्ग में ही निपातित होता है। (प्रपूर्वक 'वी' से यत् प्रत्यय, ई का अय् आदेश, टाप् इनमें 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से अपादान अर्थ में यत् प्रत्यय होता है।) वेद से भिन्न में गुण करने से—भेयम्, 'प्रवेयम्' यह बनता है।

वेदविषय में—इसका क्या फल है? भेयम्, प्रवेयम्—ये रूप लोक में होते हैं। (यत् परे रहते गुण होता है।)

---

१. *'बिभेतेर्धातोः, प्रपूर्वस्य च 'वी' इत्येतस्य यति परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते।*

* **हृदय्या उपसंख्यानम्।** * ह्रदे भवा ह्रदय्या आपः[1]। भवे छन्दसि (४।४।११०) यत्।

(१३२) ३५१८ **प्रकृत्यान्तःपाद**[2]**मव्यपरे।** (६-१-११५) ऋक्पादमध्यस्थ एङ् प्रकृत्या स्यादति परे न तु वकारयकारपरेऽति। उपप्रयन्तो अध्वरम्। (ऋ. १।७४।१) सुजाते अश्वसूनृते। (ऋ. ५।७९।१)

अन्तःपादं किम्? एतासं एतेऽर्चन्ति। (ऋ. १।१६५।१)

अव्यपरे किम्? तेऽवदन्। (ऋ. १०।१०९।१)

---

* 'आप् अर्थ में 'ह्रदय्या' यह कहना चाहिये।' *

* उदा॰ ह्रदे भवाः—ह्रदय्या आपः। 'ह्रदे भवा' इस अर्थ में 'भवे छन्दसि' से यत् प्रत्यय करने के बाद प्रस्तुत वार्तिक से 'ह्रद' के 'अ' का 'अय्' आदेश होता है—ह्रद् अय् + य, टाप्, प्रथमा बहुवचन का रूप 'ह्रदय्याः' है; क्योंकि 'आपः' यह बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होता है।॥१३१॥

ऋक्पाद के मध्य में विद्यमान एङ् का प्रकृतिभाव होता है अत् परे रहते किन्तु वकारपरक तथा यकारपरक अत् परे रहते यह प्रकृतिभाव नहीं भी होता है।

उदा॰ 'उपप्रयन्तो अध्वरम्।' 'सुजाते अश्वसूनृते।' (उपप्रयन्तो + अध्वरम्, यहाँ अ का पूर्वरूप प्राप्त है किन्तु इस सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है। यही स्थिति सुजाते + अश्वसूनते में भी होती है। इसमें भी प्रकृतिभाव होता है पूर्वरूप नहीं होता है।)

पाद के मध्य में स्थित हो—इसका क्या फल है? एतास एतेऽर्चन्ति। (यहाँ पाद का अन्त होने से प्रकृतिभाव न होकर 'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) सूत्र से अ का पूर्वरूप होता है।

वकार तथा यकारपरक अ न हों—इसका क्या फल है? तेऽवदन्। (ते + अवदन् यहाँ अकार के बाद वकार है। अतः यह सूत्र लागू नहीं होता है॥१३२॥

---

१. *ह्रदय्या इति। अकारस्यायादेश इति पदमञ्जरी।*

२. *'एङः पदान्तादति' (६।१।१०९) इत्यतः एङः, अति इचेत्यनुवर्तते। महाभाष्ये तु—''नान्तःपादमव्यपरे' इत्याकारकं सूत्र पठितम्। काशिकायामपि—''केचिदिदं सूत्रं 'नान्तः पादमव्यपरे' इति पठन्ति, ते संहितायामिह यदुच्यते तस्य सर्वस्य प्रतिषेधं वर्णयन्ति। अत्रत्यं रहस्यं न्यासादौ द्रष्टव्यम्। पादशब्देन च ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यते न श्लोकपादस्येति।*

(१३३) ३५१९ अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु[1] च। (६-१-११६) एषु व्यपरेऽप्यति एङ् प्रकृत्या। वसुभिर्नो अव्यात्। (तै. सं. २।१।११।२) मित्रमहो अवद्यात्। (ऋ. ४।४।१५) मा शिवासो अवक्रमुः। (ऋ. ७।३२।२७) ते नो अव्रत। शतधारो अयं मणिः। ते नो अवन्तु कुशिकासो अवस्यवः। (ऋ. ३।४२।९)

यद्यपि बह्वृचैस्तेनोऽवन्तु[2] रथतूः, सोऽयमागात्, तेऽरुणेभिरित्यादौ प्रकृतिभावो न क्रियते तथापि बाहुलकात् समाधेयम्। प्रातिशाख्ये तु वाचनिक एवायमर्थः।

अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु तथा अवस्यु—इन शब्दों में यकारपरक तथा वकारपरक अ रहने पर भी पाद के मध्य में एङ् का प्रकृतिभाव हो जाता है सन्धिकार्य नहीं होता है।

उदा० 'वसुभिर्नो अव्यात्' (यहाँ पूर्वरूप प्राप्त है, किन्तु प्रकृतिभाव हो जाता है।) मित्रमहो + अवद्यात्। मा शिवासो + अवक्रमुः। ते नो + अव्रत। शतधारो + अयं मणिः। ते नो + अवन्तु। कुशिकासो + अवस्यवः। (इन सभी में पूर्वरूप प्राप्त है किन्तु पूर्वोक्त शब्द पर होने से उसका अपवाद प्रकृतिभाव ही होता है।)

यद्यपि बह्वृच = ऋग्वेदी विद्वान्—'तेनोऽवन्तु रथतूः', 'सोऽयमागात्', 'तेऽरुणेभिः'—आदि में प्रकृतिभाव नहीं करते हैं अपितु पूर्वरूप ही करते हैं तथापि बाहुलक मान कर समाधान कर लेना चाहिये—प्रातिशाख्य में यह बात कही गई है, वचनरूपेण यह बात उक्त है।)॥१३३॥

---

१. अत्रापि 'एङः अति' इत्यनुवर्तते, 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' (६।१।११५) इति 'अव्यपरे' इति विहाय सूत्रं सर्वमनुवर्तते।अव्यादित्यादिषु यकार-वकारपरेऽप्यति परतोऽन्तः पादमेङ्प्रकृत्या भवति। अत्र सूत्रे 'अव्यादीनामनुकरणात् समासो विभक्तिश्च।

२. ऋग्वेदप्रातिशाख्ये एवमुक्तम्—"अन्तःपादमकाराच्चेत् संहितायां लघोर्लघु। यकाराद्यक्षरं परं वकाराद्यपि वा भवेत्॥ (ऋ. प्रा. ३५)

वाचनिकः = वचनेन, शब्देन बोधित इत्यर्थः। छन्दसि बाहुलकात् सर्वविधीनां वैकल्पिकत्वात् समाधानं विधेयं सर्वत्र।

(१३४) ३५२० यजुष्युरः[1]। (६-१-११७) उरःशब्द एङन्तोऽति प्रकृत्या यजुषि। उरो अन्तरिक्षम्। (वा. सं. ४।७) यजुषि पादाभावादनन्तःपादार्थं वचनम्।

(१३५) ३५२१ आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठेऽम्बेऽम्बालेऽम्बिके[2] पूर्वे। (६-१-११८) यजुषि अति प्रकृत्या। आपो अस्मान्मातरः। शुन्धयन्तु (वा. सं. ४।२) जुषाणो अग्निराज्यस्य। (वा. सं. ५।३५) वृष्णो अंशुभ्याम्। (वा. सं. ७।१) वर्षिष्ठे अधि नाके। (तै. सं. १।१।८।१)

एङन्त उरस् शब्द अत् परे रहते प्रकृतिभाव प्राप्त करता है।

उदा० 'उरो अन्तरिक्षम्' (उरस्, स् का रुत्व, उत्व, गुण करने पर 'उरो + अन्तरिक्षम्' बनता है। यहाँ उरस् शब्द एङन्त मिलता है, प्रकृतिभाव होता है।) यजुर्वेद में पाद नहीं होते हैं अतः पाद के मध्य से भिन्न के लिये भी यह सूत्र बनाया गया है।॥१३४॥

'आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे'—ये चार शब्द तथा 'अम्बिके' इससे पूर्व में विद्यमान 'अम्बे' तथा 'अम्बाले' ये दोनों शब्द 'अत्' से परे रहते यजुर्वेद में प्रकृतिभाव प्राप्त करते हैं। (सूत्र में इन शब्दों का अनुकरणपाठ समझना चाहिये अतः विभक्ति-रूपविषयक शंका नहीं करनी चाहिये।)

उदा० 'आपो + अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु।' (यहाँ अ का पूर्वरूप प्राप्त है किन्तु प्रकृतिभाव होता है। 'आपः' यह प्रथमा बहुवचनान्त रूप है।)

'जुषाणो + अग्निराज्यस्य। वृष्णो + अंशुभ्याम्। वर्षिष्ठे + अधिनाके। (इन सभी में अ के पूर्वरूप का अपवाद प्रकृतिभाव होता है।)

---

१. 'एङो अति' इत्यनुवर्तते। 'प्रकृत्या' इति च वर्तते।

२. 'यजुषि' इति 'प्रकृत्या' इति चानुवर्तते। आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे—एते चत्वारः शब्दाः, अम्बे, अम्बाले—इत्येतौ च यौ अम्बिके-शब्दात् पूर्वौ यजुषि पठितौ, ते अतिपरे प्रकृत्या भवन्ति। आपो जुषाणो—इत्येवमादीनि सर्वाण्यनुकरणान्यविभक्तिकानि। अम्बिके पूर्वे —इदमप्यनुकरणमेव। तत्र प्रथमं जसन्तम्, द्वितीयं स्वन्तम्, तृतीयं शसन्तम्, चतुर्थं ङ्यन्तम्, इतरे द्वे सम्बुद्ध्यन्ते। अम्बिके शब्दात् पूर्वौ—इति विग्रहे अम्बिकेपूर्वे इत्यस्माद् वचनादेव पञ्चमीसमासः। 'अम्बे' इत्यत्र 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७।४।१०४) इति ह्रस्वोऽपि अस्मादेव वचनात्र भवतीति काशिकाकाराशयः।

अम्बे अम्बाले अम्बिके। (तै. सं. ७।४।१९।१) अस्मादेव वचनात् 'अम्बार्थ' (७।३।१०७।२६७) इति ह्रस्वो न।

(१३६) ३५२२ अङ्ग इत्यादौ[1] च। (६-१-११९) अङ्गशब्दे य एङ् तदादौ च अकारे य एङ् पूर्वः सोऽति प्रकृत्या यजुषि। प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीव्यत् (वा. सं. ६।२०)।

अम्बे + अम्बाले अम्बे + अम्बिके। (यहाँ भी प्रकृतिभाव होता है।) इस सूत्र में 'अम्बे' ऐसा पठित होने के कारण इस 'अम्बे' शब्द का ह्रस्व आदेश 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७।३।१०९) सूत्र से नहीं होता है। (भाव यह है कि 'अम्बा' का सम्बोधन एकवचन में 'सम्बुद्धौ च' सूत्र से एत्व करने पर 'अम्बे' रूप बनाने के बाद 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व की प्राप्ति है किन्तु सूत्र में 'अम्बे' ऐसा ही पाठ होने से ह्रस्व नहीं किया जाता है, एकारान्त ही माना जाता है।) अम्बे + अम्बाले + अम्बिके—यहाँ दोनों में अकारों का प्रकृतिभाव किया जाता है॥१३५॥

'अङ्ग' शब्दपरे रहते जो एङ् उसका प्रकृतिभाव होता है तथा अङ्गशब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते भी जो एङ् वह भी (यजुर्वेद में अत् परे) प्रकृतिभाव प्राप्त करता है।

(यहाँ सूत्र में चकारपाठ का विशेष प्रयोजन है। यदि चकार का पाठ नहीं रहता तो सूत्र का इतना ही अर्थ होता—अङ्ग शब्द का एङ् तदादि = अङ्गादि परे रहते प्रकृतिभाव प्राप्त करता है।' इसके अनुसार 'अङ्गे + अदीव्यत् आदि में प्रकृतिभाव नहीं हो पाता। जब चकार का पाठ है तब सूत्र का अर्थ होता है—अङ्ग शब्द का जो एङ् वह कहीं भी अत् परे रहते प्रकृतिभाव प्राप्त करता है और अङ्गादि अत् परे रहते भी जो एङ् वह भी अत् परे रहते प्रकृतिभाव प्राप्त करता है। इस अर्थ के कारण—अङ्गे + अङ्गे + अदीव्यत् दोनों में प्रकृतिभाव होता है तथा 'प्राणो + अङ्गे' यहाँ भी प्रकृतिभाव होता है॥१३६॥

---

१. सूत्रे 'इति' शब्दस्तच्छब्दसमानार्थः। तदादौ इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः इति नागेशः। तेनायं सूत्रार्थः—अङ्ग (= अङ्गे) शब्दे य एङ् तदादौ = अङ्गादौ च अकारे परे य एङ् पूर्वः सोऽति यजुषि विषये प्रकृत्या भवति। अत्र त्रिधा प्रकृतिभावः—१. अङ्गशब्दे परे पूर्वस्य एङः प्रकृतिभावो यथा—प्राणो + अङ्गे, (२) अङ्गशब्दस्यादौ य अकारः तस्मिन् परे एङः' प्रकृतिभावो यथा—अङ्गे + अदीव्यत्। (३) संयोगात् पूर्वस्य ह्रस्वाकारस्य दीर्घत्वं संयोगे गुरु (१।४।११) इतिसूत्रात्, एतदर्थं सूत्रमावश्यकम् अङ्गे + अङ्गे इत्यत्र प्रकृतिभावविधानार्थमिति भावः।

(१३७) ३५२३ अनुदात्ते च कुधपरे[1] (६-१-१२०) कवर्ग-धकारपरे अनुदात्तेऽति परे एङ् प्रकृत्या यजुषि। अयं सो अग्निः। (वा. सं. ५।३७) अयं सो अध्वरः।

अनुदात्ते किम्-अधोऽग्रे रुद्रे। अग्रशब्द आद्युदात्तः। कुधपरे किम्-सोयमग्निमतः।

(१३८) ३५२४ अवपथासि[2] च (६-१-१२१) अनुदात्ते अकारादौ अवपथाः शब्दे यजुषि एङ् प्रकृत्या। त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः। (काठक. ३०।६।३२) वपेस्थासि लङि 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) इत्यनुदात्तत्वम्।

कवर्गपरक और धकारपरक अनुदात्त अकार परे रहने पर यजुर्वेद में एङ् का प्रकृतिभाव होता है।

उदा० अयं सो + अग्निः। अयं सो + अध्वरः (प्रथम में कवर्गपरक अ है और द्वितीय में धकारपरक। अतः दोनों में प्रकृतिभाव होता है। 'अग्नि' शब्द निप्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। अध्वर शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है। अतः शेषनिघात से दोनों के अ अनुदात्त होते हैं।

अनुदात्त अकार परे रहते—इसका क्या फल है? अधोऽग्रे रुद्रे। अग्रे शब्द आद्युदात्त निपातित होने से अ उदात्त होता है ('ऋजेन्द्राग्रवज्र०' इत्यादि उणादि सूत्र से)।

कवर्गपरक अथवा धकारपरक अकार रहने पर—इसका क्या फल है? सोऽयमग्निमतः। (सो + अयमग्निमन्तः' यहाँ अकार के बाद कवर्ग अथवा धकार नहीं है अपितु य का है। अतः प्रकृतिभाव न होकर पूर्वरूप ही होता है।)॥१३७॥

अनुदात्त अकारादि 'अवपथाः' शब्द परे रहते यजुर्वेद में एङ् का प्रकृतिभाव होता है।

उदा० 'स्त्रीरुद्रेभ्यो + अवपथाः।' वप धातु से आत्मनेपद में लङ् में थास् प्रत्यय करने पर 'अवपथाः' रूप बनता है यहाँ 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) सूत्र से

---

१. 'यजुषि' इत्यनुवर्तते। कवर्गधकारौ परौ यस्मात् स तस्मिन् तादृशे अकारे एङ् प्रकृत्या भवति। धकारेऽकार उच्चारणार्थः। 'ऋज्रेन्द्राग्र०' (उणादि. २।१८६) इति रन् प्रत्ययः, 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तः।

२. 'यजुषि' इत्यनुवर्तते। 'च' शब्देन 'अनुदात्ते' इत्यनुकृष्यते। अकारः आदौ यस्य तस्मिन् तादृशे 'अवपथाः' शब्दे एङ् प्रकृत्या भवति।

अनुदात्ते किम् ? यद्वद्रेभ्योऽवपथाः। 'निपातैर्यद्यदि (८।१।३०।३९३७) इति निघातो न।

(१३९) ३५२५ आङोऽनुनासिकश्छन्दसि[1]। (६-१-१२६) आङोऽचि परेऽनुनासिकः स्यात् स च प्रकृत्या। अभ्र आँ अपः। (ऋ. ५।४८।१) गभीर आँ उग्रपुत्रे। (ऋ. ८।६७।११)

*** ईषाअक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः।[2] ***

अतिङन्त से परे तिङन्त का निघात = अनुदात्त होता है। अतः "अवपथाः' का अ अनुदात्त परे है। प्रकृत सूत्र से प्रकृतिभाव होता है।

अनुदात्त परे रहते—इसका क्या फल है? 'यद्वद्रेभ्योऽवपथाः' यहाँ प्रकृतिभाव नहीं होता है क्योंकि 'निपातैर्यद्यदिह हन्त०' (८।१।३०) सूत्र से अनुदात्त का निषेध हो जाता है। अतः 'अ' उदात्त ही रहता है अतः प्रकृतिभाव नहीं होता है॥१३८॥

अच् परे रहते आङ् का अनुनासिक आदेश होता है और उसका प्रकृतिभाव भी होता है।

उदा० 'अभ्र आँ अपः।' 'गभीर आँ उग्रपुत्रे।' (यहाँ आ = 'आङ्' का अनुनासिक = आँ और उसका प्रकृतिभाव होता है। यद्यपि "ईषदर्थे क्रियायोगे' इत्यादि वचन से 'आ' यहाँ उक्त किसी अर्थ में न होने से अनर्थक होने से ङित् अर्थात् 'आङ्' नहीं है तथापि 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इस वचन के अनुसार इन दोनों में ही अङित् मानना चाहिये अन्यत्र ङित् मानना चाहिये। अतः प्रकृत में 'आ' को 'आङ्' समझ कर अनुनासिक तथा प्रकृतिभाव कर लेना चाहिये।)

---

१. 'प्लुतप्रगृह्या अचि' (६।१।१२५) इत्यतः 'अचि' इत्यनुवर्तते। 'प्रकृत्या' इति च सम्बध्यते। आङ् इति ङिद्विशिष्ट आकारो गृह्यते। ङित्त्वं तु इत्थं बोध्यम्—

'ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।

एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥

"वाक्यस्मरणयोङित्' इत्यत्रैव तात्पर्यम्, अन्यत्र सर्वत्र आङ् ङिद् वेदितव्यः एवं तावद् भाष्ये" 'स्थितमिति पदमञ्जरीकारः।'

२. 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२७) इति सूत्रे वार्त्तिकमिदम्। तत्र हि 'ईषा अक्षादिषु छन्दसि प्रकृतिभावमात्रम्' इति पठ्यते, काशिकायामप्येवम्।

ईषा अक्षो हिरण्ययः। (ऋ. ८।५।२९) ज्या इयम्। पूषा अविष्टु।

(१४०) ३५२६ स्यश्छन्दसि बहुलम्[1] (६-१-१३३) स्य इत्यस्य सोर्लोपः स्याद्धलि। एष स्य भानुः।

(१४१) ३५२७ ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे[2] मन्त्रे। (६-१-१५१) ह्रस्वात्परस्य चन्द्रशब्दस्योत्तरपदस्य सुडागमः स्यान्मन्त्रे। हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः। सुश्चन्द्र दस्म। (तै. सं. ४।४।४।६)

---

* "ईषा अक्ष आदि शब्दों का वेदविषय में प्रकृतिभाव कहना चाहिये।"*

उदा० ईषा + अक्षो हिरण्ययः। ज्या + इयम्। पूषा + अविष्टु। (इनमें प्रथम और तृतीय में सवर्णदीर्घ तथा द्वितीय में गुणसन्धि न होकर प्रकृतिभाव होता है।)॥१३९॥

वेदविषय में 'स्य' इसके सु का लोप हल् परे रहते होता है।

उदा० 'एष स्य भानुः।' (स्यसु + भानुः—यहाँ सु प्रत्यय का लोप होता है। स्यः—यह त्यद् के प्रथमा एकवचन का रूप है। त्यदाद्यत्व, पररूप करने के बाद 'तदोः सावनन्त्ययोः' (७।२।१०६) सूत्र से त् का स् आदेश होता है। त्यद् = त्य = स्य + भानुः॥१४०॥

ह्रस्व से परे उत्तरपद चन्द्र हो तो उसे सुट् का आगम मन्त्रविषय में होता है।

उदा० 'हरिश्चन्द्रो मरुद्गणः।' 'सुश्चन्द्र दश्म।' (यहाँ दोनों—हरि+ चन्द्रः, सु + चन्द्र में ह्रस्व के बाद उत्तरपद चन्द्र है अतः सुट् का आगम, स् का श् श्चुत्व होने पर उक्तरूप बनते हैं। मन्त्र से भिन्न में सुट् नहीं होता है—सुचन्द्रा पौर्णमासी॥१४१॥

---

१. स्य-इति त्यद् इत्यस्य प्रथमैकवचनम्, तस्यानुकरणम्। तस्माच्चोत्पन्ना या षष्ठी विभक्तिस्तस्याः 'सुपां सुलुक्' इत्यादिना लुक्, अथवा विभक्तेरनुत्पत्तिरेव, अनुकार्यानुकरणयोर्भेदस्याविवक्षितत्वादिति न्यासः। एवञ्च 'एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ् समासे' (६।१।१३२) इत्यनेन लोके एतदः तदश्च सोर्लोपः, छन्दसि त्यदोपि सुलोपो बोध्यः।

२. चन्द्रशब्दे उत्तरपदे ह्रस्वात् परः सुडागमो भवति।' 'सुट्कात् पूर्वः' (६।१।१३५) इत्यत 'सुट्' इत्यनुवर्तते। स च सुट् भवन् 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इतिपरिभाषया ह्रस्वादिति पञ्चम्या चन्द्रोत्तरपदे इति च सप्तम्याः षष्ठ्यां प्रकल्पितायां चन्द्रस्यैव भवतीति बोध्यम्।

(१४२) ३५२८ **पितरामातरा च छन्दसि**[1] (६-३-३३) द्वन्द्वे निपातः। आ मा गन्तां पितरामातरा च। (वा. सं. ९।१९) चाद्विपरीतमपि। न मातरापितरा नू चिदिष्टौ। (वा. सं. ९।१९)

समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु[2] (६।३।८४।१०१२) समानस्य सः स्यान्मूर्धादिभिन्ने[2] उत्तरपदे। सगर्भ्यः।

*** छन्दसि स्त्रियां बहुलम्**[3]।

वेदविषय में द्वन्द्व में 'पितरामातरा' यह रूप निपातित होता है।

उदा० 'आ मा गन्तां पितरामातरा च।' सूत्र में 'च' का पाठ है अतः विपरीत रूप भी होता है—'न मातरापितरा नू चिदिष्टौ।' (पिता च माता च—इस अर्थ में द्वन्द्व समास, विभक्तिलोप करने के बाद पूर्वपद के पितृ और मातृ के ऋ का 'अराङ्'आदेश होता है। किन्तु उत्तर पद के बाद वाली 'औ' विभक्ति के स्थान पर 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इत्यादि सूत्र से 'आ' आदेश करने पर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (७।३।११०) सूत्र से मातृ और पितृ के ऋ का गुण तथा रपर कर देने से पितरामातरा और मातरापितरा रूप बन जाते हैं॥१४२॥

समान का 'स' आदेश होता है मूर्धा, प्रभृति तथा उदर्क से भिन्न कोई उत्तरपद परे रहने पर।

उदा० सगर्भ्यः। (समानः गर्भः = समानगर्भः, कर्मधारय है। 'तत्र भवः' इस अर्थ में 'सगर्भसयूथसनुताद्यत्' (४।४।११४) इस पूर्व सूत्र से यत् प्रत्यय होता है और प्रस्तुत सूत्र से 'समान' का 'स' आदेश होता है—सगर्भ + यत्, भसंज्ञा तथा अलोप करने तथा प्रातिपदिकसंज्ञा आदि करने पर रूप बनता है—सगर्भ्यः)॥क॥

* वेदविषय में स्त्रीलिङ्ग में विष्वक् तथा देव शब्द की 'टि' का 'अद्रि' आदेश बहुलरूप से होता है।*

---

१. द्वन्द्वे पूर्वपदस्य अराङादेशो निपात्यते। स च 'ङिच्च' इत्यनेनान्त्यस्यैव स्थाने भवति। उत्तरपदे तु 'सुपां सुलुक्' (७।१।३९) इति विभक्तेराकारादेशः। 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति ऋकारस्य गुणो रपरश्च। भाष्ये तु 'पूर्वोत्तरपदयोर्ऋकारस्यारारौ निपात्येते।'' पूर्वोत्तरपदयोरिति—सप्तम्यन्तमेतत् इति कैयटः। एतत् सूत्रात् पूर्व सूत्रम् 'मातरपितरावुदीचाम्' (६।३।३२)। तेन मतद्वयेन—मातरपितरा, पितरमातरा, मातरापितरा, पितरामातरा—चेति रूपाणि बोध्यानि।

२. 'सहस्य सः संज्ञायाम्' (६।३।७८) इत्यतः 'सह' इत्यनुवर्तते।

३. 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये'' (६।३।९२) विश्वग्, देव-इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च

विष्वग्देवयोरद्र्यादेशः (६।३।९२) **विश्वाची च घृताची**[1] **च।** (ऋ. ७।४३।३) **देवद्रीचीं नयत देवयन्तः। कद्रीची।** (ऋ. १।६४।१७)

('विष्वग्देवयोश्च (६।३।९२) यह सर्वनाममात्र का उपलक्षण समझना चाहिये। 'बहुल' के कारण 'अद्रि' आदेश न होने के उदा० पहले दिये गये हैं—) उदा० विश्वाची च घृताची च। (यहाँ 'विश्व' इस सर्वनाम की टि का अद्रि आदेश नहीं होता है— विश्वाची।)

देवद्रीचीं नयत देवयन्तः। (देवम् अञ्चति—इस विग्रह में 'ऋत्विग्-दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च' (३।२।५९) सूत्र से क्विन् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप—देव + अञ्च् 'अनिदितां हलः' (६।४।२४) सूत्र से न् लोप, 'उगितश्च' से ङीप्, 'अचः' (६।४।१३२) से अलोप—देव + च् ई, देव की टि = अ का अद्रि आदेश इस वार्तिक से—देवद्रि + च् ई, 'चौ' (६।३।१३८) सूत्र से पूर्व अण् = इ का दीर्घ—देवद्री च् ई = देवद्रीची। द्वितीया एकवचन का रूप है।

कद्रीची। कुत्सितमञ्चति—इस विग्रह में किम् शब्द से क्विन् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, किम् + अञ्च्, टि = इम् का अद्रि आदेश कद्रि + अञ्च्, नलोप, अलोप, ङीप्—कद्रीची, प्रथमा एकवचन का रूप है—कद्रीची।) (विष्वक् शब्द को सर्वनाममात्र का उपलक्षक मानने से अन्य सर्वनामशब्दों की टि का भी 'अद्रि' आदेश होता है। तथा बहुलग्रहण के कारण कहीं कहीं 'अद्रि' आदेश नहीं भी होता है। प्रथम का उदाहरण—कद्रीची। और द्वितीय का उदा० 'विश्वाची च घृताची' समझना चाहिये। विश्वाची में अद्रि आदेश नहीं होता है।)॥ख॥

टेः 'अद्रि' इत्ययमादेशो भवति अञ्चतावप्रत्ययान्ते उत्तरपदे। अविद्यमानः प्रत्ययः = अप्रत्ययः क्विन् क्विबादिः। 'अञ्चतौ वप्रत्यये' इत्यपि पाठः (काशिकायाम्)। तत्र 'वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ, इति व्याख्येयमिति। तत्त्वबोधिनी। 'वप्रत्यये' इत्यत्र बहुव्रीहिः, व प्रत्ययो यस्मात् स तादृशेऽञ्चताविति भावः।

१. इदं सर्वनाम्नोऽप्युपलक्षणम्। अत एव 'विश्वाची' इत्युदाहरणम्, घृताचीति नेदमुदाहरणम्, प्राप्त्यभावादिति हरदत्तः। न्यासकारस्तु घृताचीत्यत्रापि मन्यते। वार्तिके बहुलग्रहणात्पूर्वोक्तेषु टेरद्रि—आदेशो न भवति। कुत्सितमञ्चतीति विग्रहः, किम् शब्दस्य टेरद्र्यादेशः—कद्रीची।

(१४३) ३५२९ सध मादस्थयोश्छन्दसि[1]। (६-३-९६) **सहस्य सधादेशः स्यात्। इन्द्रं त्वास्मिन्त्सधमादे। सोमः सधस्थम्।**

(१४४) ३५३० पथि च छन्दसि[2]। (६-३-१०८) **पथिशब्दे उत्तरपदे कोः कवं कादेशश्च। कवपथः। कापथः। कुपथः।**

वेदविषय में 'माद' और 'स्थ' उत्तरपद रहने पर 'सह' का 'सध' आदेश हो जाता है।

उदा० 'इद्र त्वास्मिन् सधमादे।' 'सोमः सधस्थम्।' (सह माद्यन्ति देवा अस्मिन्—इस विग्रह में सह उपपद माद् धातु से 'मदोऽनुपसर्गे' (३।३।६७) सूत्र से अप् प्रत्यय प्राप्त रहते 'अजब्भ्यां स्त्रीखलनाः' इस वचन से उसका अपवाद 'हलश्च' (३।३।१२१) सूत्र से घञ् = अ प्रत्यय, उपधावृद्धि—सह माद। प्रस्तुत सूत्र से 'सह' का 'सध' आदेश—'सधमादः' = यज्ञः,सप्तमी एकवचन का रूप है—सधमादे) सह तिष्ठति—इस विग्रह में सह उपपद स्था धातु से 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) सूत्र क = अ प्रत्यय, 'आतो लोप इटि च' (६।४।६४) सूत्र से धातु का आलोप, प्रस्तुत सूत्र से 'सह' का 'सध' आदेश—सधस्थः रूप बनता है। द्वितीया एकवचन में—सधस्थम्।।१४३।।

पथिन् शब्द उत्तरपद रहते, वेदविषय में 'कु' के स्थान पर 'कव' और 'का' ये दो आदेश होते हैं विकल्प से। अतः इनके अभाव में 'कु' भी रहता है जिससे तीन रूप बनते हैं—कवपथः, कापथः, कुपथः।

उदा० कुत्सितः पन्थाः—इस अर्थ में समास, विभक्तिलोप, 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) सूत्र से 'अ' प्रत्यय अन्तावयव आदेश अर्थात् कु पथिन्' में न् का अ आदेश, इलोप—कुपथ, 'कु' के कव और का आदेश वैकल्पिक हैं अतः 'कु' का रूप भी रहता है। कव होने पर—कवपथः और 'का' होने पर—कापथः। प्रथमैकवचन का रूप है। आदेश न होने पर—कुपथः भी होता है।।१४४।।

---

१. छन्दसि विषये माद-स्थ-इत्येतयोरुत्तरपदयोः 'सहस्य' 'सध' इत्यादेशो भवति। 'सहस्य सः संज्ञायाम्' (६।३।७८) इत्यतः 'सहस्य' इत्यनुवर्तते।

२. 'विभाषा पुरुषे' (६।३।१०६) इत्यतो 'विभाषा' इत्यनुवर्तते। छन्दसि विषये पथिशब्दे उत्तरपदे कोः कव-का-इत्येतावादेशौ भवतो विभाषा। का पथ्यक्षयोः' (६।३।१०४) इत्यतः 'का' इति, 'कवं चोष्णे' (६।३।१०७) इत्यतः 'कवम्' इति, 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' (६।३।१०१) इत्यतः 'कोः' इति चानुवर्तते।

(१४५) ३५३१ साढ्यै साढ्वा[1] साढेति निगमे। (६-३-११३) **सहेः क्त्वाप्रत्यये आद्यं द्वयं, तृनि तृतीयं निपात्यते। मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा।** (ऋ.७।५६।२३) **अचोर्मध्यस्थस्य डस्य ळः ळहश्च प्रातिशाख्ये विहितः। आह हि–**

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्त इति।

(ऋ. प्रा. १।५२)

वेदविषय में 'सह' से क्त्वा प्रत्यय में साढ्यै, साढ्वा और तृन् प्रत्यय साढा—ये तीन शब्दरूप निपातित होते हैं।

उदा०—साढ्यै—सह् + क्त्वा = त्वा, प्रकृतसूत्र से क्त्वा का ध्यै आदेश—सह् + ध्यै 'हो ढः' सूत्र से ह का ढ, सढ् + ध्यै, ष्टुत्व—सढ् + ढ्यै, 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढ का लोप, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से पूर्ववर्ती अ का दीर्घ—साढ्यै। जब 'ध्यै' आदेश नहीं होता है तब सह् + क्त्वा = त्वा, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व और ढलोप के बाद 'सहिवहोरोदवर्णस्य' सूत्र से 'स' के अ का ओत्व प्राप्त होता है उसका अभाव निपातित होता है—साढ्वा। सह् + तृन्, यहाँ भी ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप, पूर्व का दीर्घ, ऋ का अनङ् आदेश तथा विभक्तिकार्य करने पर साढा, साढारौ आदि रूप निष्पन्न होते हैं।)

उदा० "मरुद्भिरुग्रः पृतनासु साळ्हा।' इस 'साढा' इस उदाहरण में दो अचों के मध्य में 'ढ' है उसका 'ळ्ह' आदेश हो जाता है क्योंकि प्रातिशाख्यका वचन है। इसकी व्याख्या नागेश के शब्दों—"अस्य = आचार्यस्य। 'एत्य'—स्थितः' इतिशेषः। स डकारः—जिह्वामूलतालुस्थानीयः। जिह्वामूलं तालु चाचार्य आह स्थानं डकारस्य तु वेदे मित्र' इत्युपक्रमात्। स एव = स्वरद्वयमध्यगः। ऊष्मणा सम्प्रयुक्तः = ऊष्मयोगे जात इत्यर्थः। यद्वा—स लकारो हकारेण = ऊष्मणा सम्प्रयुक्तो ळ्हकारतामापद्यतेऽतोऽस्याचार्यस्य मतेन ढकारो ळ्हकारतां यातीत्यर्थः।"

---

१. साढ्यै, साढ्वा, साढा—इति त्रयो निपात्यन्ते निगमे। सहेः क्त्वाप्रत्यये आद्यं द्वयम्, तृनि तृतीयं निपात्यते इति दीक्षितः। काशिकाकारस्तु साढा—इति तृच रूपमेत्।

अत्र पदमञ्जरीकारः—"साढेति तृचि रूपमेति। अपपाठोऽयम् —'आषाढोऽग्निर्बृहद्वयाः (तै. सं. १।२।१।२६) 'आषाढमुग्रं सहमानम्' (ऋ. १।१८।११) 'आषाढं युत्सु पृतनासु' (ऋ. १।९१।२१) 'आषाढाय सहमानाय' (ऋ. २।२१।२) इत्यादौ निष्ठायामात्त्वदर्शनात्। तस्मान्निष्ठायां रूपमिति पाठः। सूत्रवृत्तौ च साढ-इति ह्रस्वान्तं (साढ + इति) छेद्यम्। यदि तृजन्तेऽपि क्वचिदात्वं दृश्यते, तदान्यतरत् सूत्रे इतिकरणस्य प्रकारार्थत्वात् साध्यम्।।

(१४६) ३५३२ छन्दसि च[1]। (६-३-१२६) अष्टन आत्वं स्यादुत्तरपदे। अष्टापदी।

(१४७) ३५३३ मन्त्रे [2]सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ। (६-३-

इसका आशय यह है कि आचार्य के मत में यह दो स्वरों के मध्य में पहुँचकर स्थित हुआ डकार अर्थात् जिह्वामूल एवं तालुस्थान से उच्चारित डकार ळकारता को प्राप्त कर लेता है, ळकार बन जाता है। और वही = दोनों स्वरों के मध्य में स्थित ढकार जो ऊष्मयोग में बना है वह ळ्हकारता को प्राप्त करता है। अथवा वह ड का ळ ऊष्म = हकार के साथ संयुक्त होता हुआ अर्थात् ढ रूप वाला होता हुआ 'ळ्हकारता को प्राप्त करता है, ळ्ह बन जाता है' इस आधार पर 'साळ्हा' रूप होता है (हळ—यह पाठ अशुद्ध है॥१४५॥

वेदविषय में, अष्टन् शब्द का आकार आदेश होता है यदि बाद में कोई पद = उत्तरपद रहे।

उदा० अष्टपदी। (अष्टौ पादाः अस्याः सा—इस विग्रह में समास के बाद 'सख्यासुपूर्वस्य' (५।४।१४०) सूत्र से पाद के अन्त्य अ का लोप करने के बाद 'पादः पत्' (६।४।१३०) सूत्र से पाद का पद् आदेश—अष्टन् पद्, न् का लोप करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से 'ट' के अकार का दीर्घ—अष्टापद्—'पादोऽन्यतरस्याम्' (४।१।८) सूत्र से वैकल्पिक ङीष् करने पर—अष्टापदी। ङीष् के अभाव में अष्टापत् यह भी हो सकता है। लौकिक संस्कृत में केवल संज्ञावाची शब्द में ही अष्टन् का आ आदेश 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६।३।१२५) इस पूर्ववर्ती सूत्र से होता है। अतः 'अष्टावक्रः' आदि बनते है। 'अष्टाध्यायी' आदि में भी एक संज्ञा होने पर इसी से आत्व आदेश अथवा सवर्णदीर्घ समझना चाहिये॥१४६॥

मन्त्रों में, सोम, अश्व, इन्द्रिय तथा विश्वदेव्य इन शब्दों का दीर्घ अन्तादेश अर्थात् अन्त्य अ का आ आदेश हो जाता है मतुप् प्रत्यय परे रहने पर।

---

१. ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) इत्यतो 'दीर्घ' इति, 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६।३।१२५) इत्यतः अष्टनः इत्यनुवर्तते। अकारस्य दीर्घे कृते नकारलोपः। अष्टौ पादा अस्याः इति बहुव्रीहौ 'संख्यासु पूर्वस्य' इति पादस्याकारस्य लोपे कृते 'पादोऽन्यतरस्याम्' इति ङीपि कृते—अष्टापदी इति रूपम्।

२. 'ढ्रलोपे' (६।३।१११) इत्यतो पूर्वस्य दीर्घः अणः इत्यनुवर्तते। मन्त्रविषये सोम अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य-इत्येतेषां मतुप् प्रत्यये परतो दीर्घो भवति।

१३१) दीर्घः स्यान्मन्त्रे। अश्वावतीं सोमावतीम्। इन्द्रियावान्मदिन्तमः। विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता। (तै. सं. ४।१।६।१। ऋ. १०।१७०।४)

(१४८) ३५३४ ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम्[1]। (६-३-१३२) दीर्घः स्यान्मन्त्रे। यदोषधीभ्यः। अदधात्योषधीषु।

उदा० 'अश्वावतीं सोमावतीम्' (अश्वाः सन्ति अस्याः अस्यां वा, सोमः अस्ति अस्याः अस्यां वा—इन विग्रहों में 'तदस्त्यस्य (५।२।९४) सूत्र से मतुप् = मत् कर देने के बाद प्रस्तुत सूत्र से अ का आ आदेश—अश्वामत्, सोमामत्—'मादुपधायाश्च' (८।२।९) सूत्र से म् का व् आदेश—अश्वावत्, सोमावत्। 'उगितश्च' (४।१।६) सूत्र से ङीप् करके द्वितीया एकवचन मे रूप हैं।) इन्द्रियावान्मदिन्तमः। विश्वकर्मणा विश्वदेव्यावता। (इन्द्रियाणि सन्ति अस्य, विश्वदेव्यः अस्ति अस्य—आदि विग्रहों में मतुप्, म् का व्, प्रस्तुत सूत्र से अन्त्य अ का आ आदेश—इन्द्रियावान् यह प्रथमैकवचन का रूप है और 'विश्वदेव्यावता' यह तृतीयैकवचन का रूप है) कुछ आधुनिक व्याख्याकार विश्व और देव्य दोनों को अलग-अलग शब्द मानकर 'विश्वावान्' 'देव्यावान्' ऐसे दो उदाहरणों की कल्पना करते हैं किन्तु काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में इन्हें एक ही शब्द मानकर उदाहरण किया गया है वही शुद्ध है॥१४७॥

प्रथमा से भिन्न कोई विभक्ति परे रहते 'ओषधि' के इ का दीर्घ 'ई' आदेश हो जाता है मन्त्र में।

उदा० यदोषधीभ्यः। अदधात्योषधीषु। (ओषधि + भ्यस्, इ का दीर्घ, स् का रुत्व विसर्ग—ओषधीभ्यः। ओषधि + सुप्, दीर्घ, स् का मूर्धन्यादेश आदेश—ओषधीषु। ओषं दधाति इस अर्थ में 'ओष उपपद धा' से कि = इ प्रत्यय करने पर 'ओषधि' यह इकारान्त कृदन्त होता है अतः 'कृदिकारादक्तिनः' वार्तिक से ङीष् = ई करने पर भी 'ओषधी' यह दीर्घ ईकारान्त रूप बनना यद्यपि सम्भव है तथापि ङीष् प्रत्यय करने पर सामान्य प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त प्राप्त होता है जबकि इष्ट है इसे 'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वचो गुरुः' (फि. ४२) इस फिट् सूत्र द्वारा आद्युदात्त करना। यह तभी सम्भव है जब ङीष् न किया जाय क्योंकि तभी यह फिट् सूत्र अन्त में लघु मानकर बह्वच् शब्द के गुरु का उदात्त करता है जिससे 'ओ' उदात्त होता है अतः आद्युदात्त करने के लिये यह दीर्घविधान सार्थक है॥१४८॥

---

१. 'मन्त्रे सोमाश्व' (६।३।१३१) इत्यतो 'मन्त्रे' इति, 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घश्चानुवर्तते।

(१४९) ३५३५ ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम्[1]। (६-३-१३३) दीर्घः स्यात्। आतू न इन्द्रः। (वा. सं. ३।६५) नू मर्तः। उत वा घा स्यालात्। (ऋ. १।१०९।२) मक्षू गोमन्तमीमहे। (ऋ. ८।३३।३) भरता जातवेदसाम्। (ऋ. १०।१७६।२)। तङिति थादेशस्य ङित्त्वपक्षे ग्रहणम्। तेनेह न—शृणोत ग्रावाणः। (तै. सं. १।३।१३।१) कूमनाः। अत्रा ते भद्रा। यत्रा नश्चक्रा। (शु. यजु. २।५।२२) उरुष्याणः। (ऋ. १।९१।१५)

ऋचि = ऋग्वेद में मन्त्रों में तु, नु, घ, मक्षु, तङ् (= थादेशभूत त), कु, त्र तथा उरुष्य—इन शब्दों का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है।

उदा० आ तू न इन्द्र (तु = तू)। नू मर्तः (नु = नू)। उतवा घ ास्यालात् (घ = घा)। मक्षू गोमन्तमीमहे (मक्षु = मक्षू)। तङ् यह लोट् के थ का त आदेश जो कि 'लोटो लङ्वत्' सूत्र से अतिदेश के कारण 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (३।४।१०४) सूत्रसे किया जाता है, उसी का यहाँ ग्रहण होता है। वह 'सार्वधातुकमपित्' (१।२।४) सूत्र से अपित् सार्वधातुक ङिद्वत् हो जाने से ङित् अर्थात् तङ् मान लिया जाता है—'भरता जातवेदसम्' (भरत = भरता)। तङ् यह थ के आदेश त के ङित् होने वाले का निर्देश है। इस लिये अग्रिम उदाहरण में दीर्घ नहीं होता है—शृणोत ग्रावाणः। (श्रु + लोट् = थ = त, त के स्थान पर 'तप्तनप्तनथनाश्च' (७।१।४५) सूत्र से तप् = त आदेश होता है जो कि पित् है अतः पित् होने के कारण ङित् नहीं रहता है। फलतः 'णु' के उ का गुण होता है—शृणो और इस सूत्र से दीर्घ नहीं हो पाता है।) कूमनाः (कुमनाः = कूमनाः)। अत्रा ते भद्रा। अत्र = अत्रा)। यत्रा नश्चक्रा (यत्र = यत्रा)। उरुष्याणः (उरुष्य = उरुष्या णः। उरुष्य कण्ड्वादिगण के आकृतिगण होने से उरुष् से यक् प्रत्यय करके 'उरुष्य' यह बनता है। यह रक्षण अर्थ के हैं। इससे लोट् = सिप् = हि, 'अतो हेः' (६।४।१०५) से हि का लुक् उरुष्य। इसके बाद 'नः' 'इसका 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।४।२७) सूत्र से णत्व करने पर 'उरुष्या णः' बन जाता है। इसमें धातु 'उरुष्य' में ष्य को मान कर णत्व होता है॥१४९॥

---

१. 'संहितायाम्' (६।३।११४) इति, 'ढ्रलोपे' इत्यतो दीर्घश्चानुवर्तते।

(१५०) ३५२६ इकः[1] सुञि। (६-३-१३४) ऋचि दीर्घ इत्येव। अभीषुणः सखीनाम्। (ऋ. ४।३१।३) 'सुञः' (८।३।१०७।३६४४) इति षः। **'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः'** (८।४।२७।३६४९) इति णः।

(१५१) ३५३७ द्व्यचोऽतस्तिङः[2]। (६-३-१३५) मन्त्रे दीर्घः। विद्मा हि। (ऋ. १०।४७।१) चक्रा जरसम्। (शु. यजु. २५।२२)

सुञ् परे रहते इगन्त शब्द का दीर्घ ऋग् = ऋग्वेद में होता है।

उदा० अभीषुणः सखीनाम्। 'सुञ्' यह निपात = अव्यय ही लिया जाता है धातु नहीं क्योंकि 'सुञः' (८।३।१०७) यह सूत्र सुञ् निपात का ही षत्व करता है। अभिपूर्वक सुञ् = सु है। प्रस्तुत सूत्र से पूर्ववर्ती 'अभि' के इक् इ का दीर्घ कर देने पर अभी सु, 'सुञः' सूत्र से षत्व करने के बाद 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (८।४।२७) सूत्र से 'षु' के बाद होने से 'न' का ण हो जाता है। णत्वविधायक इस सूत्र में तीन निमित्त लिये जाते हैं—१. धातुस्थ, २. उरु शब्द और ३. षु शब्द। यहाँ 'षु' से परे णत्व होता है। अग्ने रक्षा णः' यहाँ धातुस्थक्ष निमित्त है और 'उरुणस्कृधि' इसमें 'उरु' से परे णत्व होता है॥१५०॥

मन्त्र = ऋग्वेद में दो अचों वाले तिङन्त के अन्त्य अकार का दीर्घ हो जाता है।

उदा० विद्मा हि। चक्रा जरसम्। (विद् ज्ञाने धातु से लट् = मस् 'विदो लटोवा' (३।४।८३) सूत्र से मस् का म आदेश विकल्प से करने पर विद्म, विद्मः इनमें विद्म के अकार का दीर्घ होता है—'विद्मा'। कृ + लिट् = थ = अ, द्वित्वादि करने के बाद चकृ + अ, यण् करने पर दो अचों वाला अकारान्त—चक्र रूप है इसके अन्त्य अ का दीर्घ होता है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिये तिङन्त रूप दो अचों वाला ही रहे तभी अन्त्य अ का दीर्घ होता है। यदि कम अथवा अधिक अचों वाला है तब इस सूत्र से दीर्घ नहीं होता है। इसीलिये 'अश्वा भवत वाजिनः' में 'भवत' का अ दीर्घ नहीं होता है। अकारान्त रूप वाले में अ का ही दीर्घ करता है। अतः 'अ देवान् वक्षि यक्षि च' इसमें 'इ' का दीर्घ नहीं होता है। यह दीर्घ मन्त्रपाठ में ही होता है पदपाठ में नहीं—विद्म, चक्र ये ह्रस्व ही रहते हैं॥१५१॥

---

१. 'ऋचि तुनुघ" (६।३।१३३) इत्यतः 'ऋचि' इति, 'दीर्घः' इति चानुवर्तते। 'सुञ्' इति निपातो गृह्यते न तु धातुः।

२. 'ऋचि' इति, 'दीर्घः' इति चानुवर्तते।

(१५२) ३५३८ निपातस्य[1] च। (६-३-१३६) एुवा हि ते॒। (ऋ. १०।२०।१०)

(१५३) ३५३९ अन्येषामपि[2] दृश्यते। (६-३-१३७) अन्येषामपि पूर्वपदस्थानां दीर्घः स्यात्। पूरुषः। दण्डादण्डि।

(१५४) ३५४० छन्दस्युभयथा[3]। (६-४-५) नामि दीर्घो वा।

मन्त्रभाग में दो अचों वाले अकारान्त निपात के अन्त्य का भी दीर्घ होता है। उदा० एवा हि ते। ('एव' दो अचों वाला है, अन्त्य 'अ' का दीर्घ हो जाता है। यह भी मन्त्रपाठ में ही समझना चाहिये पदपाठ में नहीं।)॥१५२॥

पूर्वसूत्र के विषय के अतिरिक्त अर्थात् दो अचों वाले अकारान्त तिङन्त शब्द और निपात शब्दों के अन्त्य अ के अतिरिक्त अर्थात् पूर्ववर्ती स्वरों का भी दीर्घ होता है।

उदा० पूरुषः (पुरुषः के आदि उ का दीर्घ होता है—पूरुषः।) दण्डादण्डि। (दण्डैश्च दण्डैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तम्—इस विग्रह में 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) सूत्र से बहुव्रीहि समास, विभक्ति का लुक् 'इच्कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) सूत्र से समासान्त इच् प्रत्यय, भसंज्ञा, अलोप, प्रस्तुत सूत्र से पूर्वपद के अन्त्य अ का दीर्घ। 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' (२।१।१७) के अन्तर्गत इच् प्रत्यय का भी पाठ होने से ऐसे समास अव्ययीभाव हो जाते हैं जिसके कारण अव्यय संज्ञा होने से विभक्ति का लुक् हो जाता है।॥१५३॥

वेदविषय में तिसृ, चतसृ इन दो शब्दों का नाम् प्रत्यय परे रहते दीर्घ होता भी है और दीर्घनिषेध भी हो जाता है। (क्योंकि 'न तिसृचतसृ' (६।४।४) सूत्र के बाद यह सूत्र पठित है। अतः निषेध और निषेधाभाव समझना चाहिये क्योंकि पूर्व सूत्र नाम् परे इन दोनों शब्दों में दीर्घ का निषेध करता है अतः इन्हीं दोनों में ये दोनों कार्य वेदविषय में होते हैं—ऐसा काशिकाकार तथा उनके अनुयायी मानते हैं।

---

१. 'ऋचि' इति, 'दीर्घः इति चानुवर्तते।

२. अत्र सूत्रे 'ऋचि' इति 'मन्त्रे' इति चानुवर्तते। तेन लोके वेदे चोभयत्रास्य प्रवृत्तिर्बोध्या। अन्येषामित्यस्यार्थः शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः।

३. 'अन्नस्य' (६।४।१) इति, 'दीर्घः' इति, 'नामि' (६।४।३) इति चानुवर्तते।

धा॒ता धा॑तॄ॒णाम्। इति बह्वृचाः। तैत्तिरीयास्तु ह्रस्वमेव पठन्ति।

(१५५) ३५४१ वा षपूर्वस्य निगमे[1]। (६-४-९) षपूर्वस्याच उपधाया वा दीर्घोऽसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षणम्। (ऋ. १।१११।४)

निगमे किम्–तक्षा। तक्षाणौ।

किन्तु दीक्षित जी आदि ऐसा अर्थ न मान कर सामान्य अर्थ करके सभी में यह मानते हैं। उदा० धाता धातृणाम्। यह दीर्घपाठ बह्वृच = ऋग्वेदी करते हैं। तैत्तिरीय शाखानुयायी तो ह्रस्व पाठ ही करते हैं—धातृणाम्।

दीक्षित और नागेश ने इसमें तिसृ और चतसृ की अनुवृत्ति अयुक्त मानी है॥१५४॥

सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों के परे रहते नकारान्त शब्दकी उपधा के पूर्व में यदि 'ष' होता है तो उपधा का विकल्प से दीर्घ हो जाता है किन्तु सम्बुद्धि = सम्बोधन एकवचन में दीर्घ नहीं होता है अन्य में ही दीर्घ होता है निगम = वेदविषय में।

उदा० ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षणम्। (ऋभुक्षिन् शब्द से द्वितीया एकवचन में अम् प्रत्यय ऋभुक्षिन् + अम् 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' (७।१।८६) सूत्र से इ का अ आदेश—ऋभुक्षन् + अ, यह नकारान्त है, न् से पूर्व अ = अच् है इससे पूर्व ष् है क्योंकि क् + ष् = क्ष होता है। अतः नकारान्त शब्द की उपधा के अच् के पूर्व ष् रहने के कारण इसकी उपधा के अच् = अ का दीर्घ विकल्प से होता है। ऋभुक्षान् + अम्, 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' (८।४।११) सूत्र से न् का ण् होने पर—ऋभुक्षाणम्। दीर्घ न होने पर ऋभुक्षणम् ये दो रूप होते हैं। वेद में ही यह दीर्घविकल्प होता है लोक में तो 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।८) सूत्र से नित्य दीर्घ होने से एक ही रूप बनता है—ऋभुक्षाणम्।

सूत्र में 'निगमे' इसका क्या फल है? तक्षा, तक्षाणौ। अर्थात् लोक में विकल्प नहीं अपितु नित्य दीर्घ होता है॥१५५॥

---

१. 'दीर्घः' इति 'नोपधायाः' (६।४।७) इति 'अन्नस्य' इति, 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (६।४।१०८) इति चानुवर्तते।

(१५६) ३५४२ जनिता मन्त्रे[1]। (६-४-५३) इडादौ तृचि णिलोपो
निपात्यते। यो नः पिता जनिता। (ऋ. १०।८२।३)

(१५७) ३५४३ शमिता यज्ञे[2]। (६-४-५४) शमयितेत्यर्थः।

(१५८) ३५४४ युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि[3]। (६-४-५८) ल्यपीत्यनु-

मन्त्र में 'जनिता' निपातन होता है अर्थात् मन्त्रभाग में जन् धातु से इडादि
तृच् परे रहते णिलोप होता है।

उदा० जन् + णिच् + तृच्, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।२।३५) सूत्र से इट्
आगम जन् इ = जनि + इ + तृ, प्रस्तुत सूत्र से णिच् = इ का लोप—जनितृ
प्रातिपदिक संज्ञा, सु, 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' (७।१।९४) सूत्र से ऋ का
अनङ् = अन् आदेश—जनितन् + सु, 'अप्तृन्तृच्' (६।४।११) सूत्र से उपधादीर्घ,
'हल्ङ्यादि' सूत्र से सुलोप 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्र से नलोप—
जनिता। यह णिलोप मन्त्रभाग में ही होता है अतः अन्यत्र और लोक में णिलोप न
होने के कारण जनि + इ + तृ, इ का गुण ए, ए का अय् आदेश कर देने पर
जनयितृ + सु, अनङादिकार्य—जनयिता रूप बनता है।)॥१५६॥

यज्ञकर्म में 'शमिता' यह निपातित होता है।

उदा० णिजन्त शमि से इडादि तृच् परे रहने पर णिलोप हो जाता है—
शमि + इट् + तृ, णिलोप शम् इतृ = शमितृ + सु, अनङादि कार्य करने पर
शमिता रूप बनता है। अन्यत्र णिलोप नहीं होने से 'शमि + इ + तृ, णि = इ
का गुण, अय् आदेश—शमयितृ + सु, अनङादि कार्य—शमयिता रूप बनता है।
उदा० शमिता। इसका अर्थ है—शमयिता = शमक, शान्त करने वाला॥१५७॥

यु तथा प्लु इन धातुओं का दीर्घ होता है ल्यप् परे रहने पर वेदविषय में।

---

१. 'अतो लोपः' (६।४।५२) इत्यतो 'लोपः' इति, 'निष्ठायां सेटि' इत्यतः 'सेटि' इति, 'णेरनिटि' (६।४।५१) इत्यतो 'णे' रिति चानुवर्तते।

२. अत्रापि पूर्ववत् सर्वेषामनुवृत्तिः। काशिकायाम् 'शृतं हविः शमितः'। तृचि सम्बुद्ध्यन्तमेतत्।" "सूत्रे तु शुद्धैकप्रथमावचनान्तम्। सर्वासु विभक्तिषु निपातनम्, प्रथमैकवचनस्याविवक्षितत्वात्। तथा च सूत्रार्थकथनसमये 'इडादौ तृचि' इति सामान्येनोक्तम्। प्रयोगोऽपि तथाविध एव—'शमितारो यदत्र सुकृतमिति (ऐ. ब्रा. २।१।१।२२) इति पदमञ्जरी नागेशश्च।

३. 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६।) इत्यतो 'ल्यपि' इत्यनुवर्तते।

वर्तते। वियूय। विप्लूय।

'आडजादीनाम्' (६।४।७२।२२५४)।

(१५९) ३५४५ छन्दस्यपि दृश्यते[1]। (६-४-७३) अनजादी-
नामित्यर्थः। आनट्। आवः।

'न माङ्योगे' (६।४।७४।२२२८)

(१६०) ३५४६ बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि[2]। (६-४-७५)

इस सूत्र में 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) सूत्र से 'ल्यपि' इसकी अनुवृत्ति होती है।

उदा० वि उपसर्ग पूर्वक 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' तथा 'प्लुङ् गतौ' इन धातुओं
से 'समानकर्तृकयोः' (३।४।३१) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय होता है किन्तु 'उपसर्ग पूर्व
में होने से समास के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) सूत्र से क्त्वा
का ल्यप् आदेश कर देने के बाद—वियु + य, विप्लु + य इस स्थिति में प्रस्तुत
सूत्र से दीर्घ कर देने पर—वियूय, विप्लूय शब्द बनते हैं। इनकी अव्यय संज्ञा हो
जाने से विभक्ति का लुक् हो जाता है॥१५८॥

लुङ्, लङ् तथा लृङ् परे रहने पर अजादि धातुओं को आट् का आगम होता
है लोक में। किन्तु वेदविषय में इनसे भिन्न विषय में भी अर्थात् अनजादि और
अजादि सभी धातुओं को आट् का आगम होता है।

उदा० आनट्। आवः। 'णश् अदर्शने' तथा 'वृञ् वरणे' इन धातुओं से लुङ्
= तिप्, प्रस्तुत सूत्र से आट् आगम—आ नश् + ति 'च्लि, लुङि' सूत्र से च्लि
और 'मन्त्रे घसह्वरणश्' (२।४।८०) सूत्र से च्लि का लुक्, 'इतश्च' से तिके इ का
लोप, हल्ङ्यादि से त् का लोप—आनश्। 'नशेर्वा' (८।२।६३) सूत्र से वैकल्पिक
कुत्व के अभाव पक्ष में 'व्रश्चभ्रस्ज' (८।२।३६) सूत्र से श् का ष् 'झलां जशोऽन्ते'
से ष् का जश्त्व ड् और वैकल्पिक चर्त्व से ड् का ट्—आनट्, आनड्। आ वृ +
लुङ् = तिप्, च्लि, 'मन्त्रे घसह्वर०' सूत्र से च्लि का लुक्, ऋ का गुण
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से, 'उरण् रपरः' से रपर—आवर्ति, इ लोप, हल्ङ्यादि
सूत्र से त् लोप, र् का विसर्ग—आवः—रूप सिद्ध होता है॥१५९॥

माङ् शब्द के योग में अट् और आट् आगम नहीं होते हैं लोक में, किन्तु
वेदविषय में माङ् का योग न होने पर भी अट् और आट् का निषेध हो जाता है
और माङ् का योग रहने पर भी अट् और आट् का आगम हो जाता है।

---

१. छन्दसि विषये आडागमो दृश्यते। यतो हि विहितस्ततोऽन्यत्रापि तत्रापि च दृश्यते। एवञ्च अजादीनां विहितस्तेनानजादीमपि छन्दसि भवतीति भावः।

२. लुङ्लङ्लृङ्क्षु यदुक्तं माङ्योगे तन्न भवति।

अडाटौ न स्तः, माङ्योगेऽपि स्तः। जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय। (ऋ. १०।७३।१) मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। (आप. ध. २।१३।६)

(१६१) ३५४७ इरयो[1] रे। (६-४-७६) प्रथमं गर्भं दध्र आपः।

उदा० 'जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय' (यहाँ माङ्योग न होने पर भी अट् आगम नहीं होता है)। मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः (यहाँ माङ् योग रहने पर भी अट् का आगम होता है)। ('जनिष्ठाः' इसके साथ माङ् का योग नहीं है तो भी अट् नहीं होता है—जनी प्रादुर्भावे + लुङ् = थास्, सिच् = स्, इट् आगम, स् का षत्व, थ का ष्टुत्व से ठ, स् का रुत्व विसर्ग—जनिष्ठाः। लोक में 'अजनिष्ठाः' होता है। मावः अवाप्सुः—वप् + लुङ् = झि। अट् आगम, सिच् = स्, वृद्धि—अवाप् स् + झि 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (३।४।१०९) सूत्र से झि का जुस् = उस्, अवाप् स् उस्, अन्त्य स् का रुत्व विसर्ग—'अवाप्सुः' यह बनता है। यद्यपि माङ् का प्रयोग है तथापि इस सूत्र से वेदविषय में अट् हो जाता है।

यहाँ 'सुबोधिनी' टीकाकार ने माङ् के योग में भी अट् आगम के उक्त उदाहरण में विषय में यह लिखा है—"इदं काशिकानुरोधेनोदाहृतम्। अध्ययने तु 'वाप्सु' रित्येव दृश्यते। माङ्यटस्तूदाहरणानन्तरमन्वेषणीयम्।" अतः अन्य उदाहरण खोजने का परामर्श दिया है। सम्भव है काशिकाकार ने जहाँ से यह उदाहरण लिया हो वहाँ 'अट्' सहित ही पाठ रहा हो। सिद्धान्तकौमुदीकार ने भी माङ्योग में भी अट् आगम का उदाहरण आवश्यक समझकर यही उदाहरण दे दिया। अतः इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं उठानी चाहिये क्योंकि समस्त वैदिक साहित्य से उदाहरण खोज पाना सरल कार्य नहीं है॥१६०॥

'इरयोः' यह 'इरे' शब्द का षष्ठी द्विवचन का रूप है—इरे + ओस्, ए का अयादेश, रुत्व विसर्ग। अतः सूत्र का यह अर्थ होता है, दो 'इरे' शब्दों का 'रे' आदेश होता है।

विमर्श—कुछ आधुनिक व्याख्याकार 'इरयः रे' ऐसा विच्छेद कर के 'इरयः' यह षष्ठी एकवचन इरे + ङस् = अस् में ए का अय् आदेश करके इरय् + अस् = इरयः—ऐसा रूप बनाते हैं। यह सर्वथा अशुद्ध रूप है क्योंकि 'इरे + ङस् =

१. *'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) इत्यतो 'बहुलं छन्दसि' इत्यनुवर्तते।*

(ऋ. १०।८२।५) रेभावस्याभीयत्वेनासिद्धत्वादालोपः। अत्र रेशब्दस्येटि कृते पुनरपि रेभावस्तदर्थं च सूत्रे द्विवचनान्तं निर्दिष्टमिरयोरिति[1]।

अस् यहाँ पर 'ङसिङसोश्च' (६।१।११०) यह सूत्र पूर्वरूप एकादेश ही करता है। क्योंकि पदान्त एङ् न होने से 'एङः पदान्तादति' यह नहीं प्रवृत्ति हो सकता। अतः 'एचोऽयवायावः' (६।१।७८) की अपेक्षा 'ङसिङसोश्च' (६।१।११०) परवर्ती होने से बाध करके पूर्वरूप ही करता है। अतः 'इरेः' यही एकवचन का रूप होता है न कि 'इरयः'। इसके अतिरिक्त दो 'इरे' का बोध कराना भी कठिन होगा। अतः द्विवचनान्त पाठ ही शुद्ध मानना चाहिये।

उदा० 'डुधाञ् धारणे' धा + लिट् = झ, 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से झ का इरेच् आदेश, धातु का द्वित्व एवम् अभ्यासकार्य—दधा + इरे। अब 'आतो लोप इटि च (६।४।६४) इस सूत्रसे आलोप प्राप्त है और 'इरयोः रेः' (६।४।७६) इस प्रस्तुत सूत्र से 'इरे' का 'रे' आदेश भी प्राप्त है, क्या किया जाय? परवर्ती होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से 'रे' आदेश ही पहले किया जाता है—दधा + रे। परन्तु अब अजादि आर्धधातुक प्रत्यय परे न रह जाने के कारण 'आतो लोप' इस सूत्र से 'आ' का लोप नहीं हो सकेगा और 'दधारे' रूप बनने लगेगा जो कि इष्ट रूप नहीं है? इसका समाधान यह दिया जा रहा है) 'रे' आदेश 'आभीय' इस अधिकार के अन्तर्गत पठित है अतः 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२) सूत्र के अनुसार 'रे' आदेश (के कर दिये जाने पर भी उसको) असिद्धवत् मान लिया जाता है, अतः 'इरेच्' परे सम्भव हो जाता है और 'आतो लोप' इससे आ का लोप हो पाता है—दध् रे = दध्रे।

लेकिन अभी रूप पूर्णतया निष्पन्न नहीं हो सका है क्योंकि अब वलादि आर्धधातुक प्रत्यय 'रे' परे है अतः 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (७।।३५) इससे इट् होता है। और इसका निषेध भी नहीं हो सकता क्योंकि 'कृ-सृ-भृ-वृ-स्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' (७।२।१३) यह सूत्र नियमार्थ है कि कृ आदि से परे इट् का निषेध होता है अन्य से नहीं। अतः अन्य सेट् धातुयें हैं उनमें 'धा' भी है। अतः—'आ' लोप के बाद भी इट् हो जाता है—दध् इ रे' = दधिरे' यही बन सकेगा, 'दध्रे' नहीं? इसका समाधान यह है कि प्रस्तुत सूत्र में 'इरयोः' यह द्विवचनान्त प्रयोग इसीलिये

१. *अत्र रेशब्दस्य सेटां धातूनामिटि कृते पुनः रेभावः क्रियते, तदर्थम्। इरयोः' इति द्विवचननिर्देशः इति काशिका।*

(१६२) ३५४८ छन्दस्युभयथा[1]। (६-४-८६) भूसुधियोर्यण् स्यादियङुवङौ च। वनेषु चित्रं विभ्वम्, विभुवं वा। (ऋ. ४।७।१) सुध्यो हव्यमग्ने। (ऋ.६।१।७) सुधियो वा।

*** तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् (४११५) तन्वं पुषेम, तनुवं वा।**

किया गया है कि द्वितीय बार भी 'इरे' का 'रे' आदेश किया जा सके। यद्यपि 'लक्षणप्रतिपदोक्तयो: प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इन वचनों के आधार पर न तो दुबारा 'रे' होना चाहिये और न ही 'इरे' इस प्रतिपदोक्त आदेश के अलावा इट् + रे = इरे इस लाक्षणिक का ग्रहण होना चाहिये? इन का समाधान यह दिया गया है कि इनके निवारण के लिये ही तो सूत्र में 'इरयो:' यह द्विवचनान्त अर्थात् दो इरे के स्थान पर रे, रे दो बार ऐसा लिखा गया है। अत: सूत्रस्थ द्विवचनग्रहणसामर्थ्यात् उक्त कोई भी परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है और इट् रे = इरे का भी 'रे' आदेश होकर 'दध्रे' यही रूप वेद में बनता है। लोक में 'दधिरे' बनता है॥१६१॥

वेदविषय में भू तथा सुधी शब्दों का यण्निषेध होता भी है और नहीं भी होता है अर्थात् एक रूप यण्वाला और एक इयङ् या उवङ् वाला ऐसे दोनों प्रकार के रूप बनते हैं।

उदा० वनेषु चित्रं विभ्वम् (विभुवम्) वा। क्विप् प्रत्ययान्त विपूर्वक भु शब्दसे द्वितीया एकवचन में अम् परे रहते यण् होने पर—विभ्वम् और यण् निषेध होने पर 'अचिश्नुवो:'' (६।४।७७) सूत्र से उ का उवङ्आदेश ङित् होने से 'ङिच्च' सूत्र से अन्त्य उ का आदेश होने पर करने से विभ् उव् अम् = विभुवम्—दो रूप बनते हैं।) 'सुध्यो नव्यमग्ने, सुधियो वा। (सुधी + जस् = अस्, यण् निषेध होने पर ई का इयङ् और निषेध न होने पर ई का यण् य् करने पर —सुध्यस्, स् का रुत्व, उत्व, गुणसन्धि में 'सुधियो हव्यमग्ने' बनता है।

('अचिश्नु' (६।४।७७) सूत्र श्नु-प्रत्ययान्त अङ्गभूत धातु जो इवर्णान्त या उवर्णान्त है और 'भू' इस शब्द के इ का इयङ् और उ का उवङ् आदेश होता है। इसी सूत्र पर निम्नवार्तिक है—)

* वेदविषय में तनु आदि शब्दों के भी इयङ् और उवङ् का उपसंख्यान

---

१. 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' (६।४।७७)) इत्यतो 'य्वोरियङुवङौ' इत्यनुवर्तते। 'इणो यण्'(६।४।१८१) इत्यतो 'यण्' इति, 'न भूसुधियौ' (६।४।८५) इति चानुवर्तते।

त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्। (तै. सं. १।८।६) (अचिश्नु ६।४।७७ सूत्रे वार्तिकमिदम्।)

(१६३) ३५४९ तनिपत्योश्छन्दसि[1]। (६-४-९९) एतयोरुपधा-लोप: क्ङिति प्रत्यये। वितत्निरे कवय:(ऋ. १।६४।५)। शकुना इव पप्तिम। (ऋ. १।१०७।२०) भाषायां वितेनिरे, पेतिम।

करना चाहिये बहुलरूप से, अर्थात् इनमें इयङ् उवङ् भी होते है पक्ष में यण् भी होता है। *

उदा० तन्वं पुषेम, तनुवं वा। (तनु + अम्, उ का उवङ् करने पर तन् उव् + अम् = तनुवम्, पक्ष में यण् करने पर तन्वम्। त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्। (त्रीणि अम्बकानि = नेत्राणि यस्य तम् —इस बहुव्रीहि में विभक्तिलोप करने के बाद त्रि + अम्बक, यण् करने पर त्र्यम्बक और इ का इयङ् करने पर त् = इय् अम्बक = त्रियम्बक, द्वितीया एकवचन का रूप है—त्र्यम्बकम्, त्रियम्बकम्— धातु रूप न होने से इयङ् अप्राप्त है। अत: विधान किया गया है॥१६२॥

वेदविषय में 'तनि' और 'पति' इन दो धातुओं के रूपों में उपधा का लोप हो जाता है अजादि कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते।

उदा० वितत्निरे कवय:। शकुना इव पप्तिम। वि उपसर्गपूर्वक 'तनु विस्तारे' धातु से लिट्—वितन् + लिट् = झ, झ का 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' (३।४।८१) सूत्र से इरेच् आदेश, धातु का द्वित्व, अभ्यास-लोपादि कार्य करने पर विततन् + इरे, प्रस्तुत सूत्र से उपधा अ का लोप कर देने पर वितत्न् इरे = वितत्निरे।

'पत्लृ गतौ' धातु से लिट् = मस् = म, द्वित्व, अभ्यासकार्य—प पत् में, इट् आगम, प्रस्तुत सूत्र से उपधा अकार का लोप—पप् त् इम = पप्तिम रूप बनता है)

लौकिक संस्कृत में—वितन् तन् इरे बनाने के बाद 'अत एक-हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) सूत्रसे अभ्यास का लोप तथा शेष बचे धातु के अ का एत्व ये दो कार्य करने पर वि तेन् इरे = वितेनिरे रूप बनता है। इसी प्रकार पत् पत् इम इसमें में अभ्यास का लोप तथा शेष बचे रूप के अ का एत्व आदेश करने पर—'पेतिम' ऐसा रूप बनता है। यद्यपि 'तनिपत्योश्छन्दसि' (६।४।९९)

---

१. 'ऊदुपधाया गोह:' (६।४।८९) इत्यत: 'उपधाया:' इति, 'अचि श्नु' (६।४।७७) इत्यत: अचि' इति 'गमहनजनखनघसाम्' (६।४।९८) लोप: क्ङित्यनङि' इति चानुवर्तते।

(१६४) ३५५० घसिभसोर्हलि च[1]**। (६-४-१००) सग्धिश्च मे। (वा. सं. १८।९) बब्धां ते हरी धानाः। (नि. ५।१२)**

सूत्र से होने वाला लोप और 'अत एकहल्मध्ये' (६।४।१२०) सूत्रसे किये जाने वाले एत्व और अभ्यास लोप ये कार्य 'आभीय' हैं अतः 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।८२) के अनुसार लोप असिद्धवत् हो जाना चाहिये और बाद वाले कार्य होने चाहिये तथापि एत्वाभ्यासलोप नहीं हो सकते क्योंकि सूत्र से होने वाले इस लोपविधान का वैयर्थ्य होने लगेगा। अतः उपधालोप-विधानसामर्थ्य के कारण एत्व तथा अभ्यासलोप नहीं किये जाते हैं॥१६३॥

'घस्' और 'भस् इन दो धातुओं की उपधा का लोप हलादि और अजादि कित् अथवा ङित् प्रत्ययों के परे होता है वेदविषय में अर्थात् कोई भी कित् या ङित् प्रत्यय परे रहने पर इन दोनों की उपधा का लोप हो जाता है वेदविषय में।

उदा० सग्धिश्च मे। बब्धां ते हरी धनाः। 'अद् भक्षणे' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' से क्तिन् प्रत्यय और 'बहुलं छन्दसि' (२।४।३९) सूत्र से अद् का घस् आदेश घस् + ति, प्रस्तुत सूत्र से उपधा के अ का लोप—घ् स् + ति, 'झलो झलि' (८।२।२६) सूत्र से स् लोप—घ् + ति, 'झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०)) सूत्र से त् का ध्—घ् + धि, 'झलां जश् झशि' सूत्र से जश्त्व से घ् का ग्—ग्धि = ग्धि। जश्त्व में अलोप का स्थानिवद्भाव नहीं होता है। समाना ग्धिः—इस विग्रह में कर्मधारयसमास, विभक्तिलोप के बाद 'समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु (६।४।८४) सूत्र से 'समान' का 'स' आदेश, प्रातिपदिक संज्ञा, सु, रुत्व, विसर्ग—सग्धिः। "सग्धिः (स्त्री) सहभोजनम्" इस अमरकोष के अनुसार 'सग्धि' का अर्थ है—सहभोजन = साथ-साथ भोजन करना।

'भस भर्त्सनदीप्त्योः' इस जुहोत्यादिगणीय धातु भस् + लोट् = तस् = ताम्, शप् का श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, अभ्यासकार्य—बभस् + ताम्, प्रस्तुत सूत्र से उपधा अलोप—बभ्स् + ताम् 'झलो झलि' (८।२।२६) से स् लोप, 'झषस्तथार्धोऽधः' (८।२।४०) सूत्र से त् का ध्, बभ् धाम्, 'झलां जश् झशि' (८।४।५३) सूत्र से भ् का जश्त्व ब्—बब्धाम् दो वचन का रूप है। एकवचन में—बभस्तु॥१६४॥

१. *अत्रापि 'छन्दसि' इति उपधायाः' 'अचि' इति 'लोपः क्ङित्यनङि' इति चानुवर्तन्ते। भाष्ये सूत्रे चकारो न पठ्यते। तत्र हि "हल्ग्रहणानर्थक्यमन्यत्रापि दर्शनादि' ति वार्तिकम्। 'हल् ग्रहणमपरिभाष्यम्' इति हरदत्तः।*

'हुझल्भ्यो हेर्धिः'[1] (६।४।१०१ सू० २४२५)

(१६५) ३५५१ श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि[2]**। (६-४-१०२) श्रुधी हवम् (ऋ. २।११।३) शृणुधी गिरः (ऋ. ८।१३।७) रायस्पूर्धिः। (ऋ.**

'हु धातु और झलन्त धातुओं से परे लोट् के हि का धि आदेश लौकिक संस्कृत में होता है।

किन्तु वेदविषय में श्रु, शृणु, पृ, कृ तथा वृ—इन धातुओं से परे भी हि का धि आदेश हो जाता है।

उदा० १. श्रुधी हवम्। 'श्रु + लोट् = सिप्, 'सेर्ह्यपिच्च' सूत्र से सि का हि आदेश श्रु + शप् + हि, 'श्रुवः शृ च' से होने वाला शृ आदेश तथा श्नु विकरण नहीं होता है अपितु 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) से शप् का लुक्हो जाता है—श्रु + हि, प्रस्तुत सूत्र से हि का धि आदेश और 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३५) सूत्र से अन्त का दीर्घ करने पर 'श्रुधी' यह रूप बनता है।

२. शृणुधी गिरः। (श्रु + लोट् = सि प्रस्तुत सूत्र से हि = धि, श्रु का शृ आदेश और श्नु विकरण—शृ नु + धि, णत्व, अन्त्य का दीर्घ—शृणुधी। यहाँ पर 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगोपधात् (६।४।१०६) सूत्र से हि का लोप प्राप्त होता है किन्तु उस के स्थान पर 'धि' का विधान किये जाने के कारण हि का लोप नहीं हो पाता है। लोक में केवल एक ही रूप होता शृणु। हि का लुक् हो जाता है।

३.रायस्पूर्धि। ('पृ पालने' से लोट्, सि, हि, धि, शप् विकरण का लुक्'बहुलं छन्दसि' सूत्र से। अतः 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' सूत्र से श्लु नहीं हो सकने के कारण द्वित्वादि नहीं होता है। 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२) सूत्र से ऋ का उत्व, रपरत्व, 'हलि च' (८।२।७७) सूत्र से दीर्घ—पूर्धि। 'रै' शब्द के द्वितीया बहुवचन में 'रायः' रूप बनता है। विसर्ग का सत्त्व करने पर—'रायस्पूर्धि'। सन्धि रूप बन जाता है। लोक में 'पिपूर्हि' ऐसा रूप बनता है इसमें न हिलोप होता है और 'ध' आदेश)।

१. *'घसिभसोर्हलिच' (६।४।१००) इत्यतो 'हलि' इत्यनुवर्तते। 'हुझल्भ्यः' इति पञ्चम्या 'हलि' इति सप्तम्याः षष्ठी प्रकल्प्यते। तेन हलादेर्हेः धिः इत्यादेशो भवति 'हु' इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्येति भावः।*

२. *'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।१।११) इत्यतो 'हेर्धिः' इत्यनुवर्तते।*

८।७८।१०) उ॒रुर्णस्कृधि।(ऋ. ८।५७।११) अपावृधि। (ऋ. १।७।६)

(१६६) ३५५२ वा[1] छन्दसि। (३-४-८८) हिरपिद्वा।

(१६७) ३५५३ अङितश्च[2]। (६-४-१०३) हेर्धिः स्यात्। रारन्धि।

---

४. उरुणस्कृधि। ('डुकृञ् करणे' धातु से लोट् = सिप् = हि = धि कृ + धि, शप् का लुक् हो जाने से 'तनादिकृञ्भ्यः उ' से उ नहीं होता है—'उरु नः कृधि' इस दशा में 'नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः' (८।२।२७) सूत्र से न का ण, 'कः करत् करति' (८।३।५०) से विसर्ग का सत्त्व कर देने पर—उरुणस्कृधि' ऐसा वाक्य बन जाता है। लोक में 'कुरु' यही होता है।)

५. अपावृधि। (अपपूर्वक 'वृञ् धातु से लोट् सिप् = हि = धि, शप् का लुक् हो जाने के कारण श्नु नहीं होता है और विधानसामर्थ्य से धि = हिलोप भी नहीं होता है, 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३५) से उपसर्ग का दीर्घ कर देने पर—अपावृधि रूप होता है। लौकिक संस्कृत में 'अपवृणु' होता है क्योंकि श्नु विकरण के बाद 'हि' का लुक् जाता है॥१६५॥

'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) सूत्र से सि का हि आदेश होता है और यह अपित् भी होता है अतः 'अपित् ङिद्वत्' के अनुसार ङिद्वत् भी हो जाता है लोक में, किन्तु वेद में 'हि' विकल्प से अपित् होता है अतः पित् और अपित् दोनों प्रकार का हो जाता है। अतः दोनों को मान कर होने वाले कार्य भी होते हैं॥१६६॥

जब अङित् हि माना जाता है उस पक्ष में उस 'हि' का 'धि' आदेश हो जाता है। फलतः दो प्रकार के रूप भी बन जाते हैं। एक 'धि' वाला और एक 'हि' वाला। 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र अपित् सार्वधातुक का ङिद्वद्भाव करता है। इस अङित् 'हि' का 'धि' आदेश प्रस्तुत सूत्र से होता है।

उदा० रारन्धि। 'रमु क्रीडायाम्' यह आत्मनेपदी धातु है, व्यत्यय से परस्मैपदी

---

१. लोटः सेर्हि इत्ययमादेशो भवति, अपिच्च भवतीति 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) इति सूत्रस्यार्थः। तस्यैव केवलम् अपित्त्वं विकल्प्यते छन्दसि। एवञ्च यदा अपित्त्वं भवति तदा ङित्त्वमपि। तेन ङित्त्वप्रयुक्तकार्यमपि भवति—प्रीणीहि इत्यादौ ईत्वम्। पित्त्वे तु अङित्वात् 'अङितश्च' (६।४।१०३) इत्यनेने हेर्धिः इत्यादेशो भवति—युयोधि इत्यादौ।

२. 'हेर्धिः' इति 'छन्दसि' इति चानुवर्तते। 'वाच्छन्दसि' इत्यनेन अपित्त्वविकल्पे पित्त्वे सति अङित्त्वं भवति। तदेदं सूत्रं प्रवर्तते।

(ऋ. १।५१।१३) रमेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम्। शपः श्लुरभ्यासदीर्घश्च। अ॒स्मे प्र॒यन्धि। यु॒योधि जा॒तवेदः। (ऋ. ८।११।४) यमेः शपो लुक्। यौतेः शपः श्लुः।

(१६८) ३५५४ मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः[1] (६-४-१४१) आत्मन्शब्द

मानकर रम् + लोट्, भ्वादिगणीय होने से प्राप्त शप् का भी व्यत्यय से 'श्लु' हो जाता है फलतः 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य करने के बाद 'ररम् + हि' इस 'हि' को विकल्प से अपित् मानने से पित् पक्ष में अङित् हो जाने से 'अङितश्च' (६।४।१०३) सूत्र से 'हि' का 'धि' आदेश 'तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य' (६।१।७) सूत्र से अभ्यास का दीर्घ रारम् + धि, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) सूत्र से म् का अनुस्वार और उस अनुस्वार का परसवर्ण आदेश करने पर 'न्' होता है—रारन्धि। 'रारम् + धि' इस अवस्था में 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपः क्ङिति' (६।४।३४) सूत्र से म् का लोप, अथवा परसवर्ण कर देने पर न् का लोप नहीं होता है। क्योंकि यह 'धि' अङित् अर्थात् पित् है, और अनुनासिकलोप कित् ङित् परे ही होता है। लौकिक संस्कृत में आत्मनेपदी ही रहने से 'रमस्व' यह रूप होता है।)

अस्मे प्रयन्धि। (प्रपूर्वक 'यम् + लोट् = सिप् = हि, शप् विकरण का बाहुलकात् लुक्, प्रस्तुत सूत्र से 'हि' का 'धि—प्रयम् + धि। म् का अनुसार और अनुस्वार का परसवर्ण न्—प्रयन्धि।)

लोक में यम् + शप् + लोट् होने पर शित् परे होने से 'पाघ्राध्मा०' सूत्र से यम् का यच्छ आदेश होता है—प्रयच्छ + हि, 'अतो हेः' (६।४।१०५) से हि का लुक् प्रयच्छ बनता है।

युयोधि जातवेदः। (यु + लोट् अदादिगणीय होने पर भी शप् का लुक् न होकर श्लु होने से 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व—युयु+ हि, अङित् होने से 'हि' का धि और सार्वधातुक मानकर गुण—युयोधि। लोक में 'हि' अपित् होने से गुण या 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।७९) सूत्र से वृद्धि नहीं होती है अतः 'युहि' ऐसा रूप बनता है॥१६७॥

मन्त्र भाग में आङ् = टा प्रत्यय परे रहने पर 'आत्मन्' शब्द के आदि आ का लोप हो जाता है।

---

१. अत्र अङ्गस्य (६।४।१) इति, 'भस्य' (६।४।१२९) इति 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इति चानुवर्तते। आङ् इति तृतीयैकवचनस्य पूर्वाचार्याणां संज्ञा।

स्याऽऽदेर्लोपः स्यादाङि। त्मना देवेषु।

(१६९) ३५५५ विभाषर्जोश्छन्दसि[1] (६-४-१६२) ऋजुशब्दस्य ऋतः स्थाने रः स्याद्वा इष्ठेमेयस्सु। त्वं रजिष्ठमनुनेषि, ऋजिष्ठं वा।(ऋ. १।९१।१)

(१७०) ३५५६ ऋत्व्य-वास्त्व्य-वास्त्व-माध्वी-हिरण्ययानि[2] छन्दसि। (६-४-१७५) ऋतौ भवमृत्व्यम्। (पै. १९।२५।१४) वास्तुनि

उदा० त्मना देवेषु (आत्मन् + टा = आ, 'आ' का लोप—त्मन् आ = त्मना)। टा इसके लिये पाणिनिपूर्व आचार्य 'आङ्' शब्द का भी प्रयोग करते थे, जैसे—'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७।३।१२०) सूत्र में। उसी प्रकार यहाँ भी समझें।।१६८।।

वेदविषय में ऋजु शब्द के बाद इष्ठन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय पर रहने ऋतु शब्द के ऋ के स्थान पर 'र' आदेश विकल्प से हो जाता है।

उदा० रजिष्ठम्, ऋजिष्ठं वा। एषाम् एषु वा अतिशयेन ऋजुः—इस विग्रह मे ऋजु शब्द से 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' सूत्र से इष्ठन् प्रत्यय, भसंज्ञा, उ का लोप—ऋज् + इष्ठ ऋ का 'र' करने पर (१) रज्इष्ठ = रजिष्ठ, र् न करने पर ऋजिष्ठ। द्वितीया एकवचन का उदाहरण है। ईयसुन् में ऋजु + ईयसुन्, उलोप, विकल्प से ऋ का र् आदेश—रजीयान् और ऋजीयान्। इमनिच् में ऋतु + इमनिच् = रजिमा और ऋजिमा रूप होते हैं।।१६९।।

ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी तथा हिरण्यय—ये पाँच शब्द वेदविषय में निपातित होते हैं।

१. ऋत्व्यम्—ऋतौ भवम्—इस विग्रह में ऋतु शब्द से यत् प्रत्यय, भसंज्ञा तथा 'ओर्गुणः' (६।४।१४६) से प्राप्त उ के गुण का अभाव होता है और अप्राप्त उ का व होता है—ऋत्व्य, प्रातिपदिकांद्विकार्य—ऋत्व्यम्। लोक में उ का गुण अवादेश—ऋतव्यम्

२. वास्त्व्यम्—वास्तुनि भवम्—इस विग्रह में वास्तु शब्द से (क) यत् और

---

१. 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इत्यतो 'र ऋतो' इति, 'इष्ठेमेयस्सु' इति, 'अङ्गस्य' इति 'तुरिष्ठेमेयस्सु' (६।४।१५४) इत्यतः 'इष्ठेमेयस्सु' इति 'अङ्गस्य' इति चानुवर्तते।

२. ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी-हिरण्यय-इत्येतानि छन्दसि निपात्यन्ते।

भवं वास्त्व्यम् वास्त्वं च। मधुशब्दस्याणि स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः (ऋ. १।९०।६) हिरण्यशब्दाद्विहितस्य मयटो मशब्दस्य [1]लोपो निपात्यते। हिरण्ययेन सविता रथेन। (ऋ. १।३५।२)

।।इति षष्ठोऽध्यायः।।

—०—

(ख) अण् दो प्रत्यय होते हैं—(क) वास्तु + यत् यहाँ भी भसंज्ञा तथा उ के गुण का अभाव होता है और उ का यण् होता है—वास्त्व्य।

(ख) ३. वास्तु + अण् यहाँ भी उ का यण् ही होता है, गुण का अभाव होता है—वास्त्वम्। लोक में एक ही रूप होता है अण् प्रत्यय वाला—वास्तवम्।

४. 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।' मधुनि भवा—इस विग्रह में मधु शब्द से अण् प्रत्यय, और णित् होने से आदिवृद्धि और ङीप् = ई, उ का यणादेश निपातित होता है—माध्वी। उ का गुणादि नहीं होता है।' प्रथमाबहुवचन का रूप है। जस् = अस्। अ का पूर्वसवर्णदीर्घ, स् का रुत्वविसर्ग—माध्वीः।

५. 'हिरण्ययेन सविता रथेन।' हिरण्यस्य विकारः—आदि विग्रह में 'हिरण्य' शब्द से 'तस्य विकारः' 'मयड् वैतयोर्भाषायाम्' (४।३।१४३) सूत्र में मयट् प्रत्यय—हिरण्य + मयट्, निपातन से मयट् के म का लोप—हिरण्य य। यहाँ म शब्द का लोप असिद्ध हो जाने के कारण 'यस्येति च (६।४।१४८) सूत्र से अ का लोप नहीं होता है। और 'यस्य हलः' (६।४।४९) सूत्र से य का लोप भी नहीं होता है। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) सूत्र से दीर्घ भी नहीं होता है—'अङ्गवृत्तेपुनर्वृत्तौ' इस परिभाषा के कारण। अथवा केवल मकार का ही लोप निपातित होता है। उसके बाद 'यस्येति च' से य के अ का लोप करने पर प्रत्यय का अवशिष्ट अकार सुनाई देता है हिरण्य् अय = हिरण्यय।।१७०।।

।। इस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के षष्ठ अध्याय के वैदिक सूत्रों की 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या सम्पूर्ण हुई।।

—०—

---

१. मशब्दस्य लोपो निपात्यते इति। तस्य (आभीयत्वेन) असिद्धत्वाद् 'यस्य हलः' (६।४।४९) इति यलोपो न। एवमपि 'अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति दीर्घः प्राप्नोति, 'अङ्गवृत्तेः पुनर्वृत्तौ' इति परिभाषाबलान्न भवतीति भावः।

सप्तमोऽध्यायः

'शीङो रुट्' [1] (७।१।६।२४४२)।

(१७१) ३५५७ बहुलं छन्दसि [2]। (७-१-८) रुडागमः स्यात्। **'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (सू० ७।१।४१।३५६३) इति पक्षे तलोपः। धेनवो दुह्रे। लोपाभावे घृतं दुह्रते।** [3]**अदृश्रमस्य। (ऋ. १।५०।३)**

लौकिक संस्कृत में शीङ् धातु के बाद झ = अत प्रत्यय रहने पर उसे रुट् का आगम होता है। अतः 'शेरते' रूप बनता है।

किन्तु वेदविषय में यह रुट् आगम बहुल रूप से होता है अर्थात् 'झि' के अतिरिक्त को भी होता है और झ में भी होता है।

(क) उदा० 'धेनवो दुह्रे।' 'दुह + झ, 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) सूत्र से झ् का अत्—दुह् + अत, 'टित आत्मनेपदानां टेरे' (३।४।७९) सूत्र से टि = अ का एत्व, प्रस्तुत सूत्र से रुट् = र का आगम—दुह् र् + अते, 'लोपस्त आत्मनेपदेषु' (७।१।७१) सूत्र से वैकल्पिक त् लोप—दुह्रए 'अतो गुणे' (६।१।९७) सूत्र से अ + ए में अ का पररूप कर देने से केवल 'ए' ही शेष बचता है—दुह् र् ए = दुह्रे। त् का लोप न होने पर दुह्रते। लोक में 'दुहन्ति' होता है।

(ख) अदृश्रमस्य। 'दृशिर् प्रेक्षणे' धातु से लुङ्, व्यत्यय के कारण प्रथम पुरुष बहुवचन के स्थान पर उत्तमपुरुष एकवचन का मिप्, अ दृश् + मिप्, मिप् का अम् आदेश, प्रस्तुत सूत्र से रुट् = र् का आगम—अदृश् र् अम् = अदृश्रम् अस्य। लोक में रुट् नहीं होता है। च्लि का अङ् और ऋ का गुण करने पर—अदर्शम् और अदर्शन् रूप होता है क्योंकि वेद में व्यत्यय से उत्तम पुरुष एकवचन होता है॥१७१॥

१. शीङोऽङ्गादुत्तरस्य झादेशस्यातो रुडागमो भवति। शेरते।

२. 'शीङो रुट्' (७।१।६) इत्यतो 'रुट्' इत्यनुवर्तते।

३. 'अदृशन्' इति काशिकायां न्यासे च पठ्यते। कौमुद्यां पदमञ्जर्यां च 'अदृशम्'इत्येव पाठः। समाधानन्तु सुबोधिन्यामेवम् —'दृशिर प्रेक्षणे' लुङ् व्यत्ययेन प्रथमपुरुषैकवचनस्थाने उत्तमपुरुषैकवचनं मिप्।'' तस्य अमादेशः तस्य रुडागमः। 'इरितो वा' इति च्लेरङ्—अदृश् र् + अ + अम्, 'अतो गुणे' इति पररूपम्। झि प्रत्यये तु झेरन्तादेशः—अदृश् + अन्ति, च्लेरङ्, तस्य रुडागमः, इलोपः, संयोगान्तलोपः, अदृश् र् अ + अन्, पररूपम्—'अदृशन्' + इति इति सन्धौ 'ङमो ह्रस्वाद्' इति नुडागमः—अदृश्रन्नस्य।

'अतो भिस ऐस्' [1] (७।१।९।१२०३)।

(१७२) ३५५८ बहुलं छन्दसि [2]। (७-१-१०) अग्निर्देवेभिः।

(अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५।३१५)

(१७३) ३५५९ नेतराच्छन्दसि [3] (७-१-२६) स्वमोरदड् न। **वार्त्रघ्नमितरम्। छन्दसि किम्-इतरत्काष्ठम्।**

लौकिक संस्कृत में अकारान्त अङ्ग से परे भिस् का ऐस् आदेश होता है। किन्तु वेदविषय में भिस् का ऐस् बहुलरूप से होता है अर्थात् होता भी है और नहीं भी होता है। अकारान्त से भिन्न से भी होता है।

उदा० अग्निर्देवेभिः। देव + भिस्, यहाँ भिस् का ऐस् नहीं होता है। 'बहुवचने झल्येत्' (७।३।१०३) सूत्र से अकारान्त का एत्व आदेश—देवेभिस्, स् का रुत्व, विसर्ग—देवेभिः। बहुल के कारण अनकारान्त शब्द से परे भी भिस् का ऐस् हो जाता है—नद्यैः। नदी + भिस्, भिस् का ऐस्, ई का यण्, स् का रुत्व-विसर्ग—नद्यैः॥१७२॥

डतराद्यन्त पाँच शब्दों से परे सु और अम् का अद्ड् = अत् आदेश होता है किन्तु वेदविषय में 'इतर' शब्द से परे सु और अम् का अदड् आदेश नहीं होता है। डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर तथा इतर—ये पाँच डतराद्यन्त हैं। वेद में इतर से अद्ड् आदेश नहीं होता है।

उदा० वार्तघ्नम् इतरम्। इतर + सु, अद्ड् न होने पर 'अतोऽम्' (७।१।२४) सूत्र से सु का अम् आदेश, 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप—इतरम्।

वेदविषय में अदड् नहीं होता है। इसका क्या फल है? इतरत् काष्ठम्। लौकिक संस्कृत में 'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (७।१।२५) से अद्ड् = अत् होता है, इतर + अत्, पररूप, जश्त्व, वैकल्पिक चर्त्व, इतरत्, इतरद् रूप बनते हैं॥१७३॥

१. अकारादङ्गादुत्तरस्य भिस ऐस् इत्ययमादेशो भवति।

२. छन्दसि विषये भिसो बहुलमैस् आदेशो भवति। अत —इत्युक्तम् अनतोऽपि भवति—नद्यैरिति। अतोऽपि न भवति—देवेभिः।

३. 'अङ्गस्य' (६।४।१) इति सम्बध्यते। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (७।१।२३) इत्यतः 'स्वमो' रिति, 'अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (७।१।२५) इत्यतः 'अद्ड्' इति चानुवर्तते। इतर-शब्दादुत्तरयोः स्वमोश्छन्दसि विषये अद्डादेशो न भवति।

'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्'[1] (७।१।३७।३३३२)।

(१७४) ३५६० क्त्वापि छन्दसि[2]। (७-१-३८) यजमानं परिधापयित्वा। (काठक. १०।११)

(१७५) ३५६१ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः[3]। (७-१-३९)

ऋजवः सन्तु पन्थाः। (ऋ. १०।८५।२३) पन्थान इति प्राप्ते सुः।

लोक में अनञ्पूर्वक समास रहने पर उस धातु से परे क्त्वा का ल्यप् आदेश होता है।

किन्तु वेदविषय में उक्त दशा में क्त्वा भी होता है और ल्यप् भी होता है। उदा० 'यजमानं परिधापयित्वा।' परि + धा + णिच्, आकारान्त होने से 'अर्तिह्री'० (७।३।३६) से पुग् = प् आगम परिधापि + क्त्वा = त्वा, इट् आगम, णिच् = इ का गुण, अय् आदेश—परिधापयित्वा। इस दशा में क्त्वा का ल्यप् आदेश प्राप्त होता है 'समासेऽनञ्पूर्वे' सूत्र से किन्तु प्रस्तुत सूत्र क्त्वा का क्त्वा भी कर देता है अतः ल्यप् न होकर क्त्वा वाला रूप ही रहता है—परिधापयित्वा। किन्तु जब ल्यप् होता है तब 'णेरनिटि' सूत्र से णि का लोप हो जाने से 'परिधाप्य' रूप भी होता है। लौकिक संस्कृत में केवल ल्यप् वाला ही रूप होता है।।१७४।।

वेद विषय में सुप् = आदि २१ प्रत्ययों (सात विभक्तियों) के स्थान पर (१) सु, (२) लुक्, (३) पूर्वसवर्ण, (४) आ, (५) आत्, (६) शे, (७) या, (८) डा, (९) ड्या, (१०) याच् और (११) आल्—ये ग्यारह प्रकार के आदेश होते हैं। (फलतः विभक्तियों के विविध प्रकार के रूप बनते हैं वेद में)

क्रमशः उदाहरण (१) सुपों का सु आदेश—'ऋजवः सन्तु पन्थाः। (पथिन् + जस् में जस् का सु आदेश हो जाता है फलतः सु परे रहते होने वाले सभी कार्य—इ का अ, थ का न्थ, सु का विसर्ग—'पन्थाः'। किन्तु अर्थ जस् का ही रहता है।

---

१. समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वाइत्येतस्य ल्यप् इत्ययमादेशो भवति।

२. 'समासेऽनञ्पूर्वे' इत्यनुवर्तते। अपिशब्दात् ल्यबपि भवति। एवञ्च वेदे ल्यपः क्त्वश्चोभयोः प्रयोगः। अत्र 'अपि' बलात् ल्यबादेशः समासेऽसमासे च भवति, अप्राप्तिविषये ल्यपः प्रापणत्वादपि शब्दस्य, अन्यथा 'वा छन्दसि' इत्येव वाच्यं स्यात्, तथा च छन्दोविधानमनुविधानाः कल्पसूत्रकारा अपि प्रयुञ्जते—'आज्येनाक्षिणी अज्येति' इति पदमञ्जरीकारः।

३. छन्दसि विषये सुपां स्थाने—सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् —इत्येते आदेशा भवन्ति।

परमे व्योमन्। (तै. उप. २।१।१) व्योमनि इति प्राप्ते ङेर्लुक्।

धीती (ऋ. १।१६४।८) मती सुष्टुती (ऋ. २।३२।४)। धीत्या मत्या सुष्टुत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्णदीर्घः।

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा अश्विना। (ऋ. १।२२।२) यौ सुरथौ दिविस्पृशावित्यादौ प्राप्ते आ।

नताद् ब्राह्मणम्। नतमिति प्राप्ते आत्। (यादेव विद्म तां त्वा। यं तमिति प्राप्ते।)

---

(२) सुपों का लुक्, उदा० परमे व्योमन्। व्योमन् + ङि, इसमें ङि का लुक् होता है। लोक में व्योमनि और व्योम्नि ये दो रूप बनते हैं क्योंकि अलोप वैकल्पिक है।

(३) पूर्वसवर्णदीर्घ के उदा० धीती मती सुष्टुती। धीती + टा = आ, मति + टा, सुष्टुति + टा, इनमें पहले आन्तरतम्य के कारण आ का ई होता है उसके बाद सवर्णदीर्घ किया जाता है—धीती, मती, सुष्टुती। लोक में ई का यण् करने पर धीत्या, मत्या, सुष्टुत्या रूप होते हैं।

(४) आ आदेश का उदाहरण—या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा। यहाँ औ तथा औट् का आ आदेश होता है—यत् + औ, देव + औ, अश्विन् + औ में सर्वत्र औ का आ आदेश हो जाता है अतः 'यौ सुरथौ दिशिस्पृशौ, अश्विनौ' न होकर उपर्युक्त आ आदेश वाले रूप हो जाते हैं। लोक में औ वाले रूप ही होते हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध है कि यहाँ आ + आत् = आत् ऐसा आकार का प्रश्लेष भी है।

(५) सुपों का आत् का उदा० नताद् ब्राह्मणम्। ब्राह्मण + अम् में अम् का आत् आदेश, 'न विभक्तौ तस्माः' (१।३।४) सूत्र के कारण त् का लोप नहीं होता है। सवर्णदीर्घ करने पर नताद् रूप बनता है। लोक में 'नतम्' होता है। [इसका एक अन्य उदाहरण भी दिया गया है—या देव विद्म ता त्वा। यहाँ पर 'यम्' तथा 'तम्' ये रूप प्राप्त थे किन्तु 'अम्' का 'आत्' आदेश हो जाने पर 'या' 'ता' रूप बने हैं। वास्तव में यहाँ 'आत्' के उदाहरण के रूप में इन्हें नहीं समझना चाहिये। संभवतः किसी लिपिकार आदि ने जोड़ दिया है क्योंकि किसी टीका और काशिका में यह उदाहरण नहीं दिया गया है। इसके अतिरिक्त इनमें 'त्' भी नहीं है।]

न युष्मे वाजबन्धवः। (ऋ. ८।६८।१९) अस्मे इन्द्राबृहस्पती। (ऋ. ४।९४।४) युष्मासु, अस्मभ्यमिति प्राप्ते शे।

उरुया (मै. ३।७।८) धृष्णुया। उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते या।

नाभा पृथिव्याः (अ. ७।६१।१)। नाभाविति प्राप्ते डा।

ता अनुष्ठ्योच्च्यावयतात्। (मै. ४।१३४।२५) अनुष्ठानमनुष्ठा[1], व्यवस्थावदङ्। आङो ड्या।

(६) शे का उदाहरण—न युष्मे वाजबन्धवः। युष्मद् + सुप्, सुप् का शे = ए आदेश, 'शेषे लोपः (७।४।९०) से अस्मद् की टि = अद् का लोप—युष्म् + ए = युष्मे।

अस्मे इन्द्राबृहस्पती। अस्मद् + भ्यस्, भ्यस् का शे = ए आदेशः 'शेषे लोपः' सूत्र से द् का लोप, अ का पररूप—अस्मे। इनमें 'युष्मासु' तथा 'अस्मभ्यम्' ये रूप प्राप्त थे, उनकी विभक्तियों का शे = ए आदेश करने पर युष्मे अस्मे रूप बने हैं। अस्मे + इन्द्राबृहस्पती यहाँ 'शे' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा हो जाने के कारण प्रकृतिभाव हो जाता है अतः अयादि सन्धि नहीं होती है।

(७) या आदेश का उदा०—उरुया। धृष्णुया। उरु + टा, धृष्णु + टा—में टा का या आदेश करने पर 'उरुया' धृष्णुया' रूप बनते हैं, जबकि लोक में टा का ना आदेश 'आङो नाऽस्त्रियाम्' सूत्र से होने पर 'उरुणा, धृष्णुना' रूप होते हैं।

(८) डा आदेश का उदा०—नाभा पृथिव्याः। नाभि + ङि, डा = आ आदेश नाभि + आ, डित् होने से टि = इ का लोप—नाभा। लोक में 'घिसंज्ञा होने से 'औत्' सूत्र से ङि का औत् आदेश और इ का अ आदेश, वृद्धि—नाभौ रूप बनता है।

(९) ड्या आदेश का उदा० ता अनुष्ठ्या उच्चावयतात्। अनुष्ठा + टा, टा का ड्या = या आदेश, डित् होने से टि = आ का लोप—अनुष्ठ्या। लोक में अनुष्ठा + टा =, 'आङि चापः' सूत्र से एत्व अनुष्ठे + आ, अय् ओदश अनुष्ठया रूप बनता है।

'अनुष्ठा' शब्द की निष्पत्ति कैसे होती है क्योंकि अनुपूर्वक 'स्था धातु से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से जो अङ् प्रत्यय प्राप्त है उसका बाध करके 'स्थागापापचो भावे' (३।३।९५) इस सूत्र से क्तिन् ही होना चाहिये और 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' के कारण नित्य बाध होना है? इसका उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि का एक सूत्र है—''पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्'' (१।१।३४) इसमें 'व्यवस्था' शब्द का प्रयोग किया गया है अतः जैसे यहाँ वि + अवस्था + अङ् होकर टाप् करने पर 'व्यवस्था' शब्द निष्पन्न होता है उसी प्रकार अनु + स्था + अङ् + टाप् करने पर 'अनुस्था' और षत्व ष्टुत्व करके 'अनुष्ठा' बनाया जा सकता है। इसीलिये काशिका में भी लिखा गया है—''कथमवस्था, संस्थेति? ''व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' इति ज्ञापकात् नात्यन्ताय बाधा भवतीति।'' इसीलिये अनुष्ठा + टा = ड्या; टिलोप, अनुष्ठ्या रूप होता है।

१. अनुष्ठानमनुष्ठेति। अनुपूर्वात् तिष्ठतेरङ् तृतीयैकवचनस्य ड्यादेशे, डित्वाट्टिलोपः। ननु अनुपूर्वात् तिष्ठते 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङं बाधित्वा 'स्थागापापचो भावे' इति क्तिना भाव्यमिति चेत् सत्यम्, 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' (१।१।३४) इति सूत्रे 'व्यवस्थायामि' ति निर्देशाद् अङपि, सामान्यापेक्षज्ञापकाश्रमायणादिति सुबोधिनीकारः।

साधुया। (ऋ. १०।६६।१२) साध्विति प्राप्ते याच्।

वसन्ता यजेत। (मै. २।३।४) वसन्ते इति प्राप्ते आल्।

*** इया-डियाजीकाराणामुपसंख्यानम्[1]। (वा. ४३०८)**

उर्विया। (ऋ. १०।१०।२) दार्विया। उरुणा दारुणेति प्राप्ते इया।

(१०) याच् आदेश का उदा० साधुया। साधु + सु इस सु का याच् आदेश—साधुया। लोक में सु का लुक् होने से 'साधु' यह होता है। याच् में चित् स्वर करने के लिये 'च्' अनुबन्ध है।

(११) आल् ओदश का उदा० वसन्ता यजेत। वसन्त + ङि, ङि का आल्, सवर्णदीर्घ करने पर 'वसन्ता' रूप होता है। लित् स्वर होता है। लोक में वसन्त + ङि = इ, गुण—वसन्ते बनता है।

* सुपों के स्थान पर इया, डियाच् तथा ई—इन आदेशों को भी कहना चाहिये।*

क्रमशः उदा० (१) इया—उरु + टा, टा का इया आदेश, उ का यण् व—उर्विया। लोक में घिसंज्ञा होने से टा का ना आदेश और णत्व होने पर—उरुणा रूप बनता है। दारु + टा, इया आदेश, यण्—दार्विया। लोक में दारुणा रूप होता है।

१. इया-डियाच् -ईकाराणाम्' इति छेदः।

सुक्षेत्रि॒या। (ऋ. १।९७।२) सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच्।

दृतिं॒ न शुष्कं॑ सरसी॒ शयानम्। (ऋ. ७।१०३।२) ङेरीकार इत्याहुः। तत्राद्युदात्ते पदे प्राप्ते व्यत्ययेनान्तोदात्तता। वस्तुतस्तु ङीषन्ताद् ङेर्लुक्। ईकारादेशस्य तूदाहरणान्तरं मृग्यम्।

*** आङ्याजयारामुपसंख्यानम्[1]। (वा.४३०९)**

प्रबा॒हवा॑ सिसृतम्। (ऋ. २।३८।२) बाहुनेति प्राप्ते आङादेशः। 'घेर्ङिति' (७।३।१११) इति गुणः।

स्वप्नया। (अ. ५।७।२) स्वप्नेनेति प्राप्ते अयाच्।

---

(२) डियाच् का उदा० सुक्षेत्रिया। सुक्षेत्रिन् + टा, टा का डियाच् = इया आदेश, डित् होने से टि = इन् का लोप—सुक्षेत्र् + इया = सुक्षेत्रिया। लोक में 'सुक्षेत्रिणा' रूप बनता है।

(३) ई का उदा० दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्। सरस् + ङि, ङि का ई आदेश—सरसी। लोक में 'सरसि' रूप होता है। यहाँ प्रत्ययस्वर के कारण आद्युदात्त स्वर प्राप्त होता है किन्तु व्यत्यय से यह अन्तोदात्त हो जाता है। वास्तव में ङीष् प्रत्ययान्त सरसी शब्द से किये गये 'ङि' प्रत्यय का लुक् ही यहाँ समझना चाहिये। अतः ईकार आदेश के किसी अन्य दूसरे ही उदाहरण खोजने की आवश्यकता है।

* सुपों के स्थान पर आङ्, अयाच् और अयार्—इन तीन आदेशों का भी उपसंख्यान करना चाहिये। *

क्रमशः उदा० (१) प्र बाहवा सिसृतम्। बाहु + टा, टा का आङ् आदेश, ङित् प्रत्यय परे होने के कारण 'घेर्ङिति' (७।३।१११) सूत्र से उ का गुण ओ तथा अव् आदेश होकर 'बाहवा' रूप बनता है। आङ् का ङित्त्व गुण करने के लिये है। लोक में 'बाहुना' बनता है क्योंकि टा का 'ना' आदेश होता है।

(२) स्वप्नया—स्वप्न + टा, टा का अयाच् आदेश, 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप—स्वप्नया। यदि अयाच् में 'अ' नहीं रहता तो 'सुपि च' (७।३।१०२) सूत्र से दीर्घ होने लगता। इसीलिये सूत्र में याच् किये जाने पर भी यह अयाच् आदेश अलग से किया गया। चित् स्वर के लिये है। लोक में टा का इन करने पर—स्वप्नेन रूप होता है।

---

१. *आङ्—अयाच् —अयाराम्' इति छेदः।*

स नु॒ः सिन्धुमिव ना॒वया॑। (ऋ. १।९७।८) नावेति प्राप्ते अयार्, रित्स्वरः।

(१७६) ३५६२ **अमो मश्[1]।** (७-१-४०) मिबादेशस्यामो मश् स्यात्। अकार उच्चारणार्थः। शित्त्वात्सर्वादेशः। **अस्तिसिचः–** (७।३।९६।२२२५) इतीट्। वधीं वृत्रम्। (ऋ. १।१६५।८) अवधिषमिति प्राप्ते।

(१७७) ३५६३ **लोपस्त आत्मनेपदेषु[2]** (७-१-४१) छन्दसि।

---

(३) अयार् का उदा०—स नः सिन्धुमिव नावया। नौ + टा, टा का अयार् आदेश, औ का आव् आदेश—नावया। 'उपोत्तमं रिति' (६।१।२१७) सूत्र से उपोत्तम = अन्त्य के समीप का उदात्तत्व करने के लिये रित् किया गया है। अन्यथा प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता॥१७५॥

लङ् तथा लुङ् में मिप् के स्थान पर 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' (३।४।१०१) सूत्र से जो अम् आदेश होता है उसका मश् आदेश वेदविषय में हो जाता है। इस 'मश्' में अकार उच्चारणार्थ है और अन्त्य श् = हल् होने से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है अतः केवल 'म्' शेष बचता है। यह आदेश शित् होने के कारण 'अनेकाल् शित् सर्वस्य (१।१।५५) सूत्र से सम्पूर्ण अम् का होता है।

उदा० 'वधीं वृत्रम्।' हन् + लुङ् = मिप् = अम्, अम् का मश् = म् आदेश "हनो वध लिङि' 'लुङि च'(२।४।४२-४३) सूत्र से हन् का वध् आदेश, अट् आगम—अवध्.+ म्, सिच्, इट्, ईट् दोनों आगम—वध् इ + स् + ई + म्, 'इट ईटि' (८।२।२८) सूत्र से सिच् का लुक्, सवर्णदीर्घ—'अवधीम्'। यहाँ 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) सूत्र से अट् का अभाव करने पर 'वधीम्' शेष बचता है। लोक में अवध् + स् + अम्, इट्, षत्व होने से 'अवधिषम्' रूप बनता है॥१७६॥

आत्मनेपद में त् का लोप वेदविषय में बहुलरूप से होता है।

---

१. *'अम्' इति मिपः स्थाने आदेशो गृह्यते। तस्य छन्दसि विषये मशादेशो भवति। शित्करणं सर्वादिशार्थम्। मकारस्य मकारवचनमनुस्वारनिवृत्त्यर्थं स्यादिति शित्करणादेव सर्वादिशः।*

२. *आत्मनेपदेषु विद्यमानो यस्तकारस्तस्य लोपो भवति छन्दसि विषये।*

देवा अदुह्र। (मै. ४।२।१) अदुहतेति प्राप्ते। दक्षिणतः शये। (काठ. २०।६) शेते इति प्राप्ते। आत्मने इति किम्-उत्सं दुहन्ति।

(१७८) ३५६४ **ध्वमो[1] ध्वात्।** (७-१-४२) अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्। (मै. ३।४।१३) वारयध्वमिति प्राप्ते।

(१७९) ३५६५ **यजध्वैनमिति च[2]।** (७-१-४३) एनमित्यस्मिन्परे ध्वमोऽन्तलोपो निपात्यते। यजध्वैनं प्रियमेधाः। (ऋ. ८।२।३७) वकारस्य

उदा० देवा अदुह्र। दुह् + लुङ् = झ, अट् आगम, 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) सूत्र से झ् का अत् आदेश अदुह् + अत, 'बहुलं छन्दसि' (७।१।८) सूत्र से रुट् = र्—अहुह् र् अत, प्रस्तुत सूत्र से त् लोप—दु ह् र् अ अ, 'अतो गुणे' से अ का पररूप—अदुह्र। लोक में अदुह् + अत् च्लि का लुक्—अदुहत रूप होता है।

दक्षिणतः शये। शीङ् + लट् = त टि का एत्व, धातु का गुण—शेते, त् का लोप कर देने पर शे + ए में ए का अय् आदेश 'शये' रूप रहता है।

आत्मनेपद प्रत्ययों में ही त् लोप होता है इस कथन का क्या फल है? उत्सं दुहन्ति। दुह + लट् = झि = अन्ति, परस्मैपद है अतः त् का लोप नहीं होता है॥१७७॥

वेदविषय में ध्वम् का ध्वात् आदेश हो जाता है।

उदा० 'अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात्।' णिजन्त वृ = वारि + लोट् = ध्वम्, शप्, इ का गुण, अय् आदेश—वारयध्वम्। ध्वम् का ध्वात् आदेश करने पर वारयध्वात् हो जाता है। लोक में वारयध्वम् होता है। इसमें टि का एत्व, पुनः 'सवाभ्यां वामौ' (३।४।९१) सूत्र से ए का अम् करने पर—वारयध्वम् रूप होता है॥१७८॥

वेदविषय में 'यजध्वैनम्' ऐसा रूप निपातित होता है अर्थात् एनम् इसके परे रहते ध्वम् के अन्त्य म् का लोप निपातित होता है।

उदा० यजध्वम् + एनम्, म् का लोप, वृद्धि आदेश कर देने से यजध्वैनम् रूप बनता है। इस सूत्र पर काशिकावृत्तिकार ने यह लिखा है 'मकारलोपो निपात्यते

१. *छन्दसि विषये ध्वमो 'ध्वात्'इत्यादेशो भवति।*

२. *ध्वमो मकारस्य लोप इति भावस्तेन वृद्धिर्भवतीति बोध्यम्।*

यकारो निपात्यत इति वृत्तिकारोक्तिः प्रामादिकी[1]।

(१८०) ३५६६ **तस्य तात्।** (७-१-४४) लोटो मध्यमपुरुषस्य बहुवचनस्य (त-शब्दस्य) स्थाने तात्स्यात्। गात्रमस्यानूनं कृणुतात्। (मै. ४।१३।४।२)। कृणुतेति प्राप्ते। सूर्यं चक्षुर्गमयतात्। (मै. ४।१३।४।२४) गमयतेति प्राप्ते।

(१८१) ३५६७ **तप्तनप्तनथनाश्च[2]।** (७-१-४५) तस्येत्येव।

वकारस्य च यकारश्छन्दसि विषये।'' यहाँ वकार के यकार का निपातन कहना प्रमादग्रस्त है क्योंकि वकारघटित पाठ ही सर्वत्र प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि काशिकाकार के समक्ष यह सूत्र, 'यजध्यैनम्' इस प्रकार का रहा होगा॥१७९॥

लोट् लकार के मध्यमपुरुष बहुवचन के 'त' के स्थान पर 'तात्' आदेश हो जाता है।

उदा० गात्रमस्यानूनं कृणुतात्। 'कृवि हिंसाकरणयोश्च' धातु से लोट् = थ = त, धातु के इ की इत् संज्ञा होने से 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) सूत्र से धातु के अन्त्य अच् के बाद नुम् = न् का आगम—कृ न् व् + त, 'धिन्विकृण्व्योर च' (३।१।८०) इस सूत्र से शप् के स्थान पर 'उ' विकरण तथा अकार अन्तादेश—कृन् उ अ + त, 'अतो लोपः' से अकार का लोप, न् का ण् कृणु + त, त का तात् आदेश—कृणुतात्। लोक में कृणुत यह रूप होता है।

चक्षुर्गमयतात्। णिजन्त गम्इ + लोट् = थ, त, त का तात्। लोक में गमयत यह रूप होता है। गम् यह धातु अमन्त है। अतः 'जनीजृषक्नुरञ्जोः मान्ताश्च' इस गणसूत्र से मित् हो जाने के कारण उपधावृद्धि हो जाने पर भी 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) सूत्र से उसका ह्रस्व हो जाता है) अतः उपधा में ह्रस्व अ ही रहता है॥१८०॥

लोट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन के थ के स्थान पर किये गये 'त' आदेश

१. *वृत्तिकारस्तु—''यजध्यैनम्' इति पाठं ज्ञात्वा वकारस्य यकारश्च निपात्यते—इत्याह। किन्तु लक्ष्ये वकारपाठस्य निर्विवादत्वात्, वेदभाष्येऽपि प्रकृतसूत्रस्य मलोपमात्रपरतोक्तेत्क्षेति भाव इति सुबोधिनी।*

२. *लोट् मध्यमपुरुषबहुवचनस्य थस्यादेशभूतस्य 'त' इत्यस्य स्थाने तप्, तनप्, तन, थन—इत्येते आदेशाश्छन्दसि विषये भवन्ति।*

शृणोत ग्रावाणः। (तै. १।३।१३।१) शृणुतेति प्राप्ते तप्। सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे। (ऋ.५।३४।१) दधातन द्रविणं चित्रमस्मे। (ऋ. १०।३६।१३) जुषध्वमिति प्राप्ते व्यत्ययेन तनप्। मरुतस्तज्जुजुष्टन। (ऋ. ७।५९।१) जुषध्वमिति प्राप्ते व्यत्ययेन परस्मैपदं श्लुश्च। विश्वेदेवासो मरुतो यतिष्ठन। यत्संख्याकाः स्थेत्यर्थः। यच्छब्दाच्छान्दसो डतिः, अस्तेस्तस्य थनादेशः।

---

(१) तप्, (२) तनप्, (३) तन, (४) थन—ये चार के स्थान पर वेदविषय में (१) तप्, (२) तनप्, (३) तन, (४) थन—ये चार आदेश भी होते हैं। इन चार में दो के पित् होने से पित् वाले कार्य गुणादि होते हैं। और शेष दो में नहीं होते हैं।

(१) क्रमशः त के तप् का उदा० शृणोत ग्रावाणः। 'श्रु + लोट् = थ = त, 'श्रुवः शृ च' (३।१।७४) सूत्र से श्नु विकरण और श्रु का शृ आदेश होने पर शृ नु + त, णत्व, त का तप् आदेश। पित् होने से अङित् है अतः इसमें गुणनिषेध न होकर गुण होता है—शृणोत।

(२) त के तनप् का उदा० 'षुञ् अभिषवे के सुनु + त, त का तनप् आदेश भी पित् है अतः इसमें भी गुण होता है—'सुनोतन। इसके स्वादिगणीय होने से 'श्नु' विकरण होता है—सुनोतन पचत ब्रह्मवाहसे।

दूसरा उदा० दधातन द्रविणं चित्रमस्मै। 'धाञ् + लोट् = थ = त, जुहोत्यादिगणीय होने से शप् का श्लु आदेश, द्वित्व, ह्रस्व, जश्त्वादि कार्य करने पर दधा + त, यहाँ 'त' का तनप् आदेश पित् है अतः अङित् होने से 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) सूत्र से धातु के आ का लोप नहीं होता है। लोक में 'धत्त' यह रूप बनता है।

(३) तन आदेश का उदा० मरुतस्तज्जुजुष्टन। 'जुष् + लोट्, यह धातु यद्यपि आत्मनेपदी है किन्तु व्यत्यय से परस्मैपदी हो जाने से थ प्रत्यय और उसका त आदेश करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से त का तन आदेश जुष् + तन, व्यत्यय के द्वारा शप् का श्लु हुआ है अतः धातु के द्वित्वाभ्यास आदि करने पर जुजुष् + तन, ष्टुत्व से त् का ट् होता है। यह पित् नहीं है अतः गुण नहीं होता है लोक में आत्मनेपदी ही होने से जुषध्वम् रूप होता है।

(४) थन आदेश का उदा० विश्वेदेवासो मरुतो यतिष्ठन। 'अस् + थ = त = थन, शप् का लुक्, 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) सूत्र से धातु के अ का लोप स् + थन। यत् शब्द से वेदविषय में से डति प्रत्यय निपातित होता है जिसके डित् होने से यत् के टि = अत् का लोप हो जाने से य् अति = यति + स्थन यहाँ 'सुषामादिषु' (८।३।९८) सूत्र से ष् और ष्टुत्व से थ का ठ हो जाने पर 'यतिष्ठन' रूप होता है—यत्संख्याकाः स्त—तुम लोग जिस संख्या वाले हो जाओ। लोट् का प्रसङ्ग है अतः मूल में 'स्थ' यह लट् का रूप प्रमादग्रस्त प्रतीत होता है। यहाँ 'स्त' यह होना चाहिये और अर्थ में भी लोट् का अर्थ प्रतीत होना चाहिये।

काशिकाकार ने इष् धातु का उदा० मानकर यद् इष् + थ = त = थन = यद् इष्ठन = यतिष्ठन = यदिच्छत ऐसा लिखा है॥१८१॥

(१८२) ३५६८ इदन्तो मसि[1]। (७-१-४६) मसीत्यविभक्तिको **निर्देशः। इकार उच्चारणार्थः। मस् इत्ययमिकाररूपचरमावयवविशिष्टः स्यात्। मस इगागमः स्यादिति यावत्। नमो भरन्त एमसि। (ऋ. १।१।७) त्वमस्माकं तव स्मसि। (ऋ. ८।९२।३२) इमः, स्मः इति प्राप्ते।**

वेदविषय में मस् यह प्रत्यय इदन्त होकर 'मसि' ऐसा भी रहता है। 'मसि' इसमें कोई भी विभक्ति नहीं है। इसमें इकार केवल उच्चारण की सुविधा के लिये है न कि इसका कोई प्रयोजन है। मस् यह प्रत्यय इकार रूप अन्तिम अवयव से विशिष्ट हो जाता है अर्थात् मस् को इक् का आगम हो जाता है। कित् होने के कारण यह मस् का अन्तिम अवयव अर्थात् 'मसि' बन जाता है।

उदा० नमो भरन्त एमसि। त्वमस्माकं तव स्मसि। इनमें क्रमशः इण् + लट् = मस्, आङ्पूर्वक है—आ + इ + मस्, गुण—एमस्, प्रस्तुत सूत्र से इदन्त हो जाने पर एमसि। लोक में इमः बनता है। अस् + मस्, 'श्नसोरल्लोपः' (६।४।१११) सूत्र से अलोप, इदन्त आदेश—स्मसि। लोक में इमः रूप बनता है॥१८२॥

---

१. *अन्तशब्दोऽवयववचनः। इत् अन्तः = अन्तावयवः यस्य स इदन्तः। तपरकरणमसन्देहार्थम्। तथा चायमर्थः—मस् इत्ययं शब्द इकारान्तो भवति। मसः सकारान्तस्य इगागमो भवतीत्यर्थः। तत्र यदि समारोपर्देन इकारान्तमभिप्रेतं स्यात् तर्हि 'मस इत्' इत्येव वक्तव्यं स्यात्। तस्मादवस्थिते एव सकारे इकार उपसंजीवनीय इति सुबोधिनी, तन्मूलं तु पदमञ्जरीकारः।*

(१८३) ३५६९ क्त्वो यक्[1]। (७-१-४७) दिवं सुपर्णो गत्वार्य। (ऋ. ८।१००।८)।

(१८४) ३५७० इष्ट्वीनमिति च[2]। (७-१-४८) क्त्वाप्रत्ययस्य ईनम् अन्तादेशो निपात्यते। इष्ट्वीनं देवान्। (आश्व. श्रौ. सू. पृ. २०४) इष्ट्वा इति प्राप्ते।

(१८५) ३५७१ स्नात्व्यादयश्च। (७-१-४९) आदिशब्दः प्रकारार्थः[3]। आकारस्य ईकारो निपात्यते। स्वित्रः स्नात्वी मलादिव।

वेदविषय में क्त्वा प्रत्यय को यक् का आगम होता है। यह आगम कित् है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र के अनुसार अन्तावयव होता है। यक् का क् ही इत्संज्ञक होता है अकार इत्संज्ञक नहीं है अतः अकारसहित यकार का श्रवण होता है।

उदा० 'दिवं सुपर्णो गत्वाया।' गम् + क्त्वा, कित् प्रत्यय होने से 'अनुदात्तोपदेश' (६।४।३७) सूत्र से अनुनासिक म् का लोप हो जाता है—ग + त्वा, अब यक् = य का आगम अन्त में होता है—गत्वाया। कृदन्त प्रातिपदिक अव्यय हो जाने से सु प्रत्यय का लोप होता है लोक में केवल 'गत्वा' होता है॥१८३॥

यज् से परे क्त्वा को ईनम् यह अन्तादेश निपातित होता है।

उदा० 'इष्ट्वीनं देवान्' 'यज् से क्त्वा प्रत्यय, कित् प्रत्यय होने से 'वचिस्वपियजादीनाम्' (६।१।१५) सूत्र से य् का सम्प्रसारण इ, अ का पररूप इज् + त्वा, 'व्रश्चभ्रस्ज' (८।२।३६) सूत्र से ज् का ष्, ष्टुत्व—इष्ट्वा, ईनम् अन्तादेश—इष्ट्वीनम्। लोक में इष्ट्वा रूप बनता है। कृदन्त अव्यय होने से सुलोप होता है॥१८४॥

वेद में स्नात्वी आदि के समान अन्य शब्द भी निपातित होते हैं। इस सूत्र में आदि शब्द प्रकार अर्थ में है। अतः अन्य शब्द भी बनते हैं। इस सूत्र से क्त्वा के आ का ईकार आदेश निपातित होता है।

---

१. 'क्त्वा' इत्येतस्य यगामो भवति छन्दसि। "यगागमेऽकारो विवक्षित" इति शेखरः। अत एवाकारान्तश्रवणम्।

२. 'पीत्वीनम् इत्यपीष्यते। सूत्रे चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् सिद्धम्।

३. एवम्प्रकाराः = ये एतत्सदृशाः शब्दास्ते स्नात्व्यादयो वेदितव्याः।

(मै. सं. ३।११।१०) पीत्वी सोमस्य वावृधे। (ऋ. ३।४०।७) स्नात्वा पीत्वेति प्राप्ते।

(१८६) ३५७२ आज्जसेरसुक्[1]। (७-१-५०) अवर्णान्तादङ्गात्परस्य जसोऽसुक् स्यात्। देवासः। ब्राह्मणासः। (ऋ. ६।७५।१०)

(१८७) ३५७३ श्रीग्रामण्योश्छन्दसि[2]। (७-१-५६) आमो नुट्।

उदा० स्वित्रः स्नात्वी मलादिव। स्ना + क्त्वा = स्नात्वा, आ का ई आदेश स्नात्वी रूप बनता है। पीत्वी सोमस्य वावृधे। पा + क्त्वा ई आदेश—पीत्वी रूप बनता है। 'घुमास्था' (६।४।६४) सूत्र से पा के आ का भी ईत्व होता है। लोक में ई नहीं होता है अतः स्नात्वा, पीत्वा रूप बनते हैं, कृदन्त अव्यय होने से सुलोप होता है।॥१८५॥

अवर्णान्त अङ्ग से परे जस् को असुक् का आगम होता है। कित् होने से जस् के अन्त में आगम जोड़ा जाता है।

उदा० देवासः। ब्राह्मणासः। देवा + जस् = अस्, असुक् = अस् का आगम—देवा + अस् + अस् = देवा + असस्, पूर्वसवर्णदीर्घ, स् का रुत्व विसर्ग देवासः, असुक्के वैकल्पिक आगम होने से—देवाः यह रूप भी होता है। लोक में केवल 'देवाः' एक ही रूप होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण + असस्, स् का रुत्व विसर्ग—ब्राह्मणासः, पक्ष में ब्राह्मणाः। लोक में केवल 'ब्राह्मणाः' एक ही रूप होता है॥१८६॥

वेदविषय में श्री तथा ग्रामणी इन से परे आम् को नुट् का आगम होता है।

उदा० 'श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्।' श्री + आम्, इसमें 'वामि' (१।४।५)

---

१. 'जसिः'इति पूर्वाचार्याणां संज्ञा। असुकि कृते जसः सकारस्य श्रवणम्, असुकः सकारस्य विसर्गः।

२. 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (७।१।५५) इत्यतः, 'आमि' इति, 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) इत्यतो नुट् इति चानुवर्तते। "श्रीग्रामण्यो'रिति सम्बन्धलक्षणा षष्ठीति न्यासकारः। पञ्चम्यर्थे षष्ठीति शेखरकारः। "श्रीशब्दस्य 'वामि' (१।४।५) इति विकल्पेन नदी संज्ञा, तत्र नित्यार्थ वचनम्" इति काशिका।

शेखरकारास्तु "इदं व्यर्थम्, श्रीणामित्यस्य 'वामी'ति नदीत्वेन सिद्धेः। छन्दस्यापाद्यमानरूपत्वाभावात्। सूतग्रामणीना-मित्यपि समाहारद्वन्द्वोत्तरमेकशेषे सिद्धमित्याहुः।

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम्। (ऋ. १०।४५।५) सूतग्रामणीनाम्। (काठ. २८।३)

(१८८) ३५७४ गोः पादान्ते[1]। (७-१-५७) विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्। (ऋ. १०।४७।१) पादान्ते किम्-गवां शता पृक्षयामेषु।

सूत्र से वैकल्पिक नदी संज्ञा नहीं होने पर प्रस्तुत सूत्र से आम् के पूर्व नुट् का आगम होता है—श्री न् आम्, णत्व, श्रीणाम्। जब नदी संज्ञा होती है तब तो 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) इस सूत्र से ही नुट् आगम हो जाता है। अतः वेद में केवल नुट् वाला रूप ही रहता है। लोक में नुट् वाला श्रीणाम् और नदीसंज्ञा के अभाव में ई का इयङ् आदेश होने पर श्रियाम्—ये दो रूप होते हैं।

सूतग्रामणी + आम्, नुट् होने पर णत्व कर देने पर सूतग्रामणीनाम् रूप बनता है। ह्रस्व न होने से तथा नदीसंज्ञक न होने से नुट् प्राप्त नहीं है। अतः नुट् किया गया।

विमर्श—नागेश के अनुसार प्रस्तुत सूत्र आवश्यक नहीं है क्योंकि 'वाऽऽमि' से नदीसंज्ञा पक्ष में 'श्रीणाम्' बनता है और वेद में अप्रयुक्त रूप की कल्पना नहीं की जा सकती अतः वेद में श्रियाम् रूप नहीं होगा। सूताश्च ग्रामण्यश्च एतेषां समाहारः—इस समाहरद्वन्द्व के बाद एकशेष कर देने पर नपुंसक ह्रस्व हो जाने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (७।१।५४) से नुट् हो सकता है। अतः दोनों के लिये सूत्र की आवश्यकता नहीं है। यदि सूताश्च ग्रामण्यश्च यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व माना जाय तभी ह्रस्व न हो सकने से नुट् की अप्राप्ति में यह सूत्र सार्थक हो सकता है॥१८७॥

वेद में मन्त्र के पाद के अन्त में विद्यमान गो शब्द से परे आम् को नुट् का आगम होता है।

उदा० 'विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम्।' गो + आम्, नुट् करने पर गोनाम्। लोक में ओ का अव् होने से गवाम् रूप बनता है। पाद के अन्त में ही गो के आम् को नुट् होता है। इसका क्या फल है? गवां शता पृक्षयामेषु। यहाँ पाद के आदि में होने से नुट् का आगम नहीं होता है।

१. *'आमि' इति 'नुट्' इति चानुवर्तते। पादशब्देन ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिति।*

पादान्तेऽपि क्वचिन्न, छन्दसि सर्वेषां वैकल्पिकत्वात्। विराजं गोपतिं गवाम्। (ऋ. १०।१६६।१)

(१८९) ३५७५ छन्दस्यपि[1] दृश्यते। (७-१-७६) अस्थ्यादीनामनङ्। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः। (ऋ. १।८४।१३)

कहीं कहीं पादान्त में भी नुट् नहीं होता है; क्योंकि वेदविषय में सभी विधियाँ वैकल्पिक होती हैं। जैसे—विराजं गोपतिं गवाम्। यहाँ पादान्त में होने पर भी नुट् का आगम नहीं होता है॥१८८॥

वेदविषय में भी अस्थि आदि शब्दों का अनङ् आदेश होता है। इस सूत्र से पहले 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः (७।१।७५) सूत्र है। प्रस्तुत सूत्र के कारण वेदविषय में कहीं-कहीं यह अनङ् नहीं भी होता है। इसके अतिरिक्त 'छन्दसि च' ऐसा कहने पर भी वेद में अनङ् हो जाता तब 'छन्दस्यपि दृश्यते' ऐसा सूत्र बनाने का फल है? उस लौकिक विषय के अनङ् आदेश की सभी उपाधियों को व्यभिचरित करना। अतः अजादि और हलादि दोनों प्रकार के प्रत्ययों में यह अनङ् होता भी है और नहीं भी होता है।

उदा० 'इन्दो दधीचो अस्थभिः।' अस्थि + भिस्, ङित् होने से अनङ् अन्तादेश होता है—अस्थन् + भिस् 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्र से नलोप होता है किन्तु नलोपविधायक सूत्र त्रिपादी का है और 'अतो भिस् ऐस्' (७।१।९) सपादसप्ताध्यायी का है। अतः नलोप असिद्ध हो जाने से भिस् अकारान्त से परे न मिलने से भिस् का ऐस् नहीं होता है। यह ध्यान रखना आवश्यक है। स् का विसर्ग करने पर अस्थभिः रूप बनता है। इसी प्रकार 'अक्षभिः' आदि भी बनते हैं॥१८९॥

१. *'अङ्गस्य' इति, 'नपुंसकस्य झलचः' इत्यतो नुपंसकस्य, 'इकोऽचि विभक्तौ' (७।१।७३) इत्यतो 'अचि विभक्तौ,' इति, 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः' (७।१।७५) इति सूत्रं चानुवर्तते। 'छन्दसि चे' त्येव सिद्धे 'अपि दृश्यते' इत्येत् सर्वोपाधिव्यभिचारार्थम्। एवञ्च 'अचि' इत्युक्तम्, अनजादावपि दृश्यते। 'तृतीयादिषु' इत्युक्तम् 'अतृतीयादिष्वपि दृश्यते—अस्थान्युत्कृत्य जुहोति। 'विभक्तौ' इत्युक्तम्, अविभक्तावपि दृश्यते—अक्षण्वता लाङ्गूलेन।*

(१९०) ३५७६ ई च[1] द्विवचने। (७-१-७७) अस्थ्यादीनामित्येव। अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्। (ऋ. १०।१६३।१)

(१९१) ३५७७ दृक्स्ववस्स्वतवसां[2] छन्दसि। (७-१-८३) एषां नुम् स्यात्सौ। कीदृङ्ङिन्द्रः। (ऋ. १०।१०८।३) स्ववान्। स्वतवान्। (ऋ. ४।२।६)

अस्थि आदि चार शब्दों के ही द्विवचन में ई आदेश हो जाता है वेदविषय में।

उदा० 'अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम्।' अस्थि + भ्याम्, ईत्व आदेश करने से—अक्षीभ्याम्। लोक में ह्रस्व इ रहता है—अक्षिभ्याम्॥१९०॥

वेदविषय में दृगन्त शब्द तथा स्ववस् और स्वतवस् इन शब्दों को सु परे रहते नुम् का आगम हो जाता है।

उदा० कीदृङ्ङिन्द्रः। किम् उपपद दृश् धातु से 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च' (३।२।६०) सूत्र से क्विन् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप 'इदंकिमोरीश् की' (६।३।९०) सूत्र से किम् का 'की' आदेश कीदृश् + सु, नुम् आगम मित् होने से अन्त्य अच् के बाद—कीदृ न् श् + सु 'हल्ङ्यादि' (६।१।६८) सूत्र से सुलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) सूत्र से श् का लोप, 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः (८।२।६२) सूत्र से न् का कुत्व = ङ्—कीदृङ्। कीदृङ + इन्द्रः' यहाँ 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् (८।३।३२) सूत्र से ङुट् = ङ् का आगम—कीदृङ् ङ् इन्द्रः = कीदृङ्ङिन्द्रः।

इसी प्रकार सुष्ठु अवः यस्य सः—इस अर्थ में निष्पन्न स्ववस् + सु, नुम्, सुलोप, 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।११०) से उपधादीर्घ, संयोगान्त स् का लोप—स्ववान्। स्वं तवः = वृद्धिर्यस्य सः—इस विग्रह में निष्पन्न स्वतवस् + सु, नुम्, सुलोप, दीर्घ, संयोगान्त स् का लोप—स्वतवान् रूप बनता है॥१९१॥

---

१. पूर्वसूत्रवत् सर्वाण्यनुवर्तन्ते। द्विवचनपरतश्छन्दसि अस्थ्यादीनामीकाशरादेशो भवति, स चोदात्तः।

२. 'अङ्गस्य' इति, 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इत्यतो 'नुम्' इति, 'सावनडुहः' (७।१।८२) इत्यतः 'सौ' इत्यनुवर्तते। दृक्, स्ववस्, स्वतवस् -इत्येतेषां सौ परतो नुमागमो भवति छन्दसि विषये। 'मिदचोऽन्त्यात् परः' इति प्रवर्तते।

'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (७।१।१०२।१४९२)।

(१९२) ३५७८ बहुलं[1] छन्दसि। (७-१-१०३) ततुरिः। (ऋ. १।१४५।३) जगुरिः पराचैः।

(१९३) ३५७९ हु ह्वरेश्छन्दसि[2]। (७-२-३१) ह्वरेर्निष्ठायां हु आदेशः स्यात्। अहुतमसि हविर्धानम्। (वा. सं. ७।१)

ॠ से पूर्व ओष्ठ्य वर्णवाली ॠकारान्त धातु के ॠ का उत् आदेश हो जाता है, 'उरण् रपरः' सूत्र से यह उ रपर अर्थात् उर् आदेश होता है। किन्तु वेदविषय में यह उत् आदेश बहुल रूप से होता है अर्थात् ओष्ठ्यवर्ण पूर्व में न होने पर भी ॠ का उत् आदेश हो जाता है।

उदा० ततुरिः। जगुरिः पराचैः। 'तॄ' धातु से 'आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च' (३।१।१७१) सूत्र से कि अथवा किन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप होने पर 'इ' शेष बचता है। लिड्वद्भाव कर देने से लिट्सम्बन्धी कार्य—धातु का द्वित्व, अभ्यास कार्य ततॄ + इ, प्रस्तुत सूत्र से ॠ का उत् आदेश और रपर होने से ततुर् इ = ततुरि। कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा, सु, विसर्ग—ततुरिः। इसी प्रकार गॄ + किन्, गॄ + इ, द्वित्वाभ्यासकार्य जश्त्व, जगॄ + इ, उत्त्व रपर, जगुरि, सु, विसर्ग— जगुरिः। इनमें ओष्ठ्यवर्ण पूर्व में' न रहने पर भी ॠ का उत् आदेश हो जाता है। लोक में ये रूप नहीं होते हैं॥१९२॥

निष्ठा प्रत्यय परे रहने पर 'ह्वृ' धातु का 'हु' आदेश हो जाता है।

उदा० अहुतमसि हविर्धानम्। (ह्वृ + क्त, ह्वृ का हु आदेश—हुत। सु और उसका अम् आदेश करने पर—हुतम्, न हुतम्—अहुतम्। लोक में 'अह्वृतम्' होता है॥१९३॥

---

१. ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् ॠकारादसावोष्ठ्यपूर्वस्तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो भवति। एष च छन्दसि विषये बहुलं भवति। भवति यथा—वुवूर्षति। न भवति—पप्रितमम्, वव्रितमम्। अनोष्ठ्यपूर्वस्यापि भवति—ततुरिः। जगुरिः।

२. 'ह्वृ कौटिल्ये'—इत्येतस्यानुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधोऽस्त्येवति आदेशार्थं वचनमिति न्यासकारः। 'श्वीदितो निष्ठायाम्' (७।२।१४) इत्यतो निष्ठायाम्' इत्यनुवर्तते।

(१९४) ३५८० **अपरिह्वृताश्च**[1] (७-२-३२) **पूर्वेण प्राप्तस्यादेशस्याभावो निपात्यते। अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्। (ऋ. १।१००।१९)**

(१९५) ३५८१ **सोमे ह्वरितः**[2]। (७-२-३३) **इड्गुणौ निपात्येते। मा नः सोमो ह्वरितः।**

(१९६) ३५८२ **ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ताविशस्तृशंस्तृशास्तृतरुतृतरूतृवरुतृवरूतृवरूत्रीरुज्ज्वलितिक्षरितिवमित्यमितीति**[3] **च। (७-२-३४) अष्टादश निपात्यन्ते। तत्र**

अपरिह्वृताः—में पूर्वसूत्र से ह्वृ का ह्रु आदेश प्राप्त है उसका अभाव भी निपातित होता है।

उदा० अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम्। यहाँ ह्वृ का ह्रु आदेश नहीं होता है। यहाँ ध्यान में रखना चाहिये कि यह बहुवचनान्त रूप ही निपातित होता है। अन्यत्र 'ह्रु' आदेश ही होना चाहिये।।१९४।।

सोमयागादि के विषय में 'ह्वरितः' ऐसा अर्थात् इट् आगम और ऋ का गुण ये दोनों निपातित होते हैं। साथ ही 'ह्रु' आदेश का अभाव भी निपातित होता है।

उदा० 'मा नः सोमो ह्वरितः।' ह्वृ + क्त, इट् आगम, ऋ का गुण और रपर—ह्वरित। सु का विसर्ग—ह्वरितः।।१९५।।

वेदविषय में (१) ग्रसित, (२) स्कभित, (३) स्तभित, (४) उत्तभित, (५) चत्त, (६) विकस्ता, (७) विशस्तृ, (८) शंस्तृ, (९) शास्तृ, (१०) तरुतृ, (११) तरूतृ, (१२) वरुतृ, (१३) वरूतृ, (१४) वरुत्री, (१५) उज्ज्वलिति, (१६) क्षरिति, (१७) वमिति, (१८) अमिति—ये १८ शब्द रूप निपातित होते हैं।

---

१. बहुवचननिर्देशो बहुवचने एव निपातनं यथा स्यात्। तेन वचनान्तरे हि—अपरिह्रुतः अपरिह्रुतौ इत्येवं भवतीति न्यासकारः। पदमञ्जरीकारस्तु—'बहुवचननिर्देशः छन्दसि तस्यैव दर्शनात्।'' एवमेव सुबोधिनीशेखरकारावप्याहतुः।

२. 'ह्वरितः' इति ह्वरतेर्निष्ठायामिडागमो, गुणः, 'ह्रु' इत्यादेशस्याभावोऽपि निपात्यते छन्दसि विषये, सोमश्चेद् भवति।

३. ग्रसित, स्कभित, स्तम्भित, उत्तभित, चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ,

ग्रसु स्कम्भु स्तम्भु एषामुदित्त्वान्निष्ठायामिट्प्रतिषेधे प्राप्ते इण्निपात्यते। युवं शचीभिर्ग्रसिताममुञ्चतम्। (ऋ. १०।३९।१३) विष्कभिते अजरे। (ऋ. ६।७०।१) येन स्वः स्तभितम्। (ऋ. १०।१२१।५) सत्येनोत्तभिता भूमिः। (ऋ. १०।८५।१) स्तभितेत्येव सिद्धे उत्पूर्वस्य पुनर्निपातनमन्योपसर्गपूर्वस्य मा भूदिति।

(१-४) ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित—इनमें क्रमशः ग्रसु = ग्रस् + त, स्कम्भु = स्कम्भ् + क्त, स्तम्भु = स्तम्भ् + क्त, उत् स्तम्भ् + क्त, यहाँ तीनों धातुयें उदित् = उकार की इत्संज्ञा वाली है अतः 'उदितो वा' (७।२।५६) सूत्र से क्त परे विकल्प से इट् प्राप्त होता है किन्तु 'यस्य विभाषा' (७।२।१५) सूत्र से ऐसी धातुओं से परे क्त को इट् का निषेध हो जाता है अतः इट् निषेध के प्राप्त रहते प्रस्तुत सूत्र इनमें इट् आगम निपातित कर देता है। कित् परे होने से अनुनासिक म् का लोप हो जाता है—ग्रस् इ त, स्कभ् इत, स्तभ् इ त। उत् स्तभ् इ त, यहाँ 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८।४।७) सूत्र से स् का पूर्वसवर्ण थ् होता है, उसका 'झरो झरि सवर्णे' (८।४।६४) सूत्र से लोप हो जाने पर उत् तभ् इत = उत्तभित रूप बन जाता है। 'युवं शचीभिग्रसिताममुञ्चन्।' वि + स्कभित में 'वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् (८।३।७७) सूत्र से मूर्धन्य ष—'विष्कम्भिते अजरे।' ('प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (६।१।११५) सूत्र से प्रकृतिभाव होता है।) 'येन स्वः स्तभितम्।' 'सत्येनोत्तभिता भमिः।'

यद्यपि 'स्तभित' के उल्लेख से भी उत् उपसर्गपूर्वक 'उत्तभित' की सिद्धि संभव थी फिर भी उत्पूर्वक स्तभित = उत्तभित का जो निपातन किया गया वह इसलिये है कि इस उत् से भिन्न किसी अन्य उपसर्गपूर्वक 'स्तम्भु' का ग्रहण न हो। (अतः अन्य उपसर्ग रहने पर ये निपातन नहीं होते हैं। अन्यथा उत्पूर्वक का ग्रहण व्यर्थ होने लगेगा।)

तरुतृ, तरूतृ, वरूतृ, वरूतृ, वरुत्रीः, उज्ज्वलिति, क्षरिति, वमिति, अमिति—इत्येते अष्टादश छन्दसि निपात्यन्ते इति दीक्षितः। काशिकाकारस्तु—क्षरिति—एतदनन्तरं 'क्षमिति' इत्यधिकं पपाठ एवञ्च काशिकामते—एकोनविंशतिः। मूले केचित् = काशिकाकार इत्यर्थो बोध्यः।

अत्र उभावपि—'क्षमति' इति भाषायामिति वदतः, तन्न सम्यक्, 'क्षमूष् सहने' इत्यस्यात्मनेपदित्वादिति बोध्यम्।

सूत्रे 'इति' शब्दः प्रकारार्थः, तेन क्वचिदीकारोऽपि भवतीति यथा—रविमभ्यमीति वरुणः। इति काशिकापदमञ्जरी शेखरकाराः।

चते याचने। कस गतौ। आभ्यां क्तस्येडभावः। चत्तो इतश्चत्तामुतः। (ऋ. १०।१५५।२) त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तम्। (ऋ. १।११७।४) उत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम्। (मै. २।७।४) निपातनबहुत्वापेक्षं सूत्रे बहुवचनं विकस्ता इति। तेनैकवचनान्तोऽपि प्रयोगः साधुरेव।

शसु शंसु शासु एभ्यस्तृच इडभावः। 'एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता। (ऋ. १।१६२।१९) ग्रावग्राभ उत शंस्ता। (ऋ. १।१६२।५) प्रशास्ता पोता। (ऋ. १।९४।६)

तरतेर्वृङ्वृञोश्च तृच उद् ऊद् एतावागमौ निपात्येते। तरुतारं रथानाम्।(ऋ. १०।१७८।१) तरूतारम्। वरुतारं, वरूतारम्। वरूत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु। (ऋ. ३।३४।२२) अत्र ङीबन्तनिपातनं प्रपञ्चार्थम्।

(५-६) चत्त, विकस्त 'चत याचने' और 'कस गतौ' इन दो धातुओं से परे क्त प्रत्यय को इट् आगम का अभाव निपातित होता है। उदा० 'चत्तो इतश्चत्तामुतः।' चत् + क्त, इट् का अभाव, टाप् —चत्ता + उ = चत्तो। उञ् निपात को एक साथ मिलकर पाठ करना, पद-छेद करना पदकारों का सम्प्रदायसिद्ध है। उदा० 'त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तम्।' वि + कस् + क्त इट् आगम का अभाव। दूसरा उदा० उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्। सूत्र में निपातन यहाँ तक के शब्दरूपों के बहुत्व में किया गया है। अतः यह नहीं समझना चाहिये यह 'विकस्त' शब्द रूप बहुवचन में ही निपातित होता है। अतः एकवचनान्त 'विकस्तः' यह भी साधु ही है। लोक में इडागम होने से चतितम् विकसितम् रूप होते हैं।

(७-९) विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ—विपूर्वक 'शसु + तृच् = विशस्तृ। 'शंसु + तृच् = शंस्तृ। 'शासु + तृच् = शास्तृ। इन तीनों में तृच् को इट् का अभाव निपातित होता है। (१) 'एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता।' (२) 'ग्रावग्राभ उत शंस्ता।' (३) 'प्रशास्ता पोता।' लोक में इडागम होता है अतः विशसिता, शंसिता, शासिता रूप बनते हैं।

(१०-१४) तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः—इनमें 'तॄ प्लवनतरणयोः' और 'वृञ् और वृ वरणे' इन धातुओं से परे तृच् प्रत्यय को उट् = उ तथा ऊट् = ऊ आगम निपातित होते हैं अर्थात् ईट् न होकर ये आगम होते हैं। उदा० तरुतारं रथानाम्। तरूतारम्। वरुतारम्। वरूतारम्। 'वरुत्रीभिः सुशरणो नो अस्तु।' तृ + तृच्,

वरूतृशब्दो हि निपातितः ततो ङीपा गतार्थत्वात्।

उज्ज्वलादिभ्यश्चतुर्भ्यः शप इकारादेशो निपात्यते। ज्वल दीप्तौ। क्षर संचलने। टुवम् उद्गिरणे। अम गत्यादिषु। इह क्षरितीत्यस्यानन्तरं क्षमितीत्यपि केचित् पठन्ति। तत्र क्षमूष् सहने इति धातुर्बोध्यः।

भाषायां तु ग्रस्तस्कब्धस्तब्धोत्तब्धचतितविकसिताः। विशसिताः। शंसिता। शासिता। तरीता, तरिता। वरीता, वरिता। उज्ज्वलति। क्षरति। पाठान्तरे, क्षमति। वमति। अमति।

२५२७. 'बभूथाऽऽततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे (७।२।६४)। 'विद्या

उट् या ऊट् आगम, ॠ का गुण, रपर—तरुतृ, तरूतृ, द्वितीया एकवचन अम् प्रत्यय के रूप हैं। वृ + तृच्, उट्, या ऊट् गुण, रपर, द्वितीया एकवचन के रूप हैं। वरूतृ + ङीप्, ऋ का यण् र्, तृतीया बहुवचन का रूप है। यद्यपि मूल वरुतृ की सिद्धि हो जाने पर ङीप् तो सामान्य रूप से संभव था फिर भी ङीवन्त 'वरूत्री' इसका निपातन केवल प्रपञ्च = विस्तारमात्र के लिये है। लोक में इट् आगम ही होता है और 'वृतो वा' (७।२।३८) सूत्र से विकल्प से दीर्घ करने पर तरिता, तरीता, वरिता वरीता आदि रूप होते हैं।

(१५-१८) उज्ज्वलिति, क्षरिति, वमिति, अमिति—इन चारों में शप् का इकार आदेश निपातित होता है अर्थात् शप् के अ का इ आदेश हो जाता हैं 'ज्वल् दीप्तौ', 'क्षर संचलने', 'टु वम उद्गिरणे', 'अम गत्यादिषु'—इन धातुओं से लट्, तिप्, शप्, शप् के अ का इ आदेश होने पर उत् + ज्वल्, इ + ति, त् का जश्त्व, श्चुत्व से ज्—उज्ज्वलिति आदि रूप निपातित हो जाते हैं। कुछ व्याख्याकारों ने 'क्षरिति के बाद 'क्षमिति' यह भी पाठ माना है (यह काशिका में है।) वहाँ 'क्षमूष् सहने' यह धातु समझना चाहिये। लोक में शप् = अ ही रहता है अतः उज्ज्वलति, क्षरति, वमति और अमति रूप होते हैं।

लौकिक रूप सभी के साथ प्रदर्शित किये गये हैं।

विमर्श—'क्षमूष् सहने' यह आत्मनेपदी धातु है अतः इसका पाठ मानने पर परस्मैपद का भी निपातन करना होगा। जिन्होंने लोक में इसका परस्मैपदीरूप मानो है वे चिन्त्य है।। क्षमते ऐसा ही रूप लिखना प्रामाणिक है किन्तु दीक्षित और काशिकाकार ने 'क्षमति' कैसे लिख दिया, यह वे ही जानते होंगे।।१९६।।

वेदविषय में बभूय, आततन्थ, जगृम्भ और ववर्थ—ये चार शब्द रूप निपातित होते हैं अर्थात् इन में इट् नहीं होता है। (१) बभूय—भू + लिट् = सिप्

तमुत्सं यत आबभूथ।'' 'येनान्तरिक्षमुर्वातन्थ।' (ऋ. ३।२२।२) 'जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्।' (ऋ. १०।४७।१) 'त्वं ज्योतिषा वितमो ववर्थ।' भाषायां तु बभूविथ। आतेनिथ। जगृहिम। ववरिथेति।

(१९७) ३५८३ सनिंससनिवांसम्[1]। (७-२-६९) सनिमित्येतत्पूर्वात्सनतेः सनोतेर्वा क्वसोरिड् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते।

= थल्, इट् निषेध, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य के बाद बभूथ, आङ् उपसर्ग के साथ आ बभूथ। लोक में इट् होने पर 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' (६।४।८८) सूत्र से वुक् आगम होने पर—आबभूविथ रूप होता है। उदा० 'विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ।'

(२) आततन्थ—आङ् + तन् + लिट् = सिप् = थल्, इट् का अभाव, द्वित्वादि कार्य करने पर रूप बनता है—आततन्थ। उदा० येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ। लोक में इट् होने पर अभ्यासलोप तथा एत्व ये दो कार्य 'अत एक हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) सूत्र से कर देने पर—आतेनिथ ऐसा रूप होता है।

(३) जगृम्भ—'ग्रह + लिट् = मस् = म, द्वित्व, अभ्यासादि कार्य, 'ग्रहिज्या' (६।१।११६) सूत्र से र का सम्प्रसारण ऋ, अ का पूर्वरूप—जगृह्म। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि' वार्तिक से ह का भ आदेश और वर्णव्यत्यय = वर्णस्थानविनिमय से म् के स्थान पर भ और भ् के स्थान पर म कर देने पर—जगृम्भ। यदि वर्णव्यत्यय न किया जाय तो जगृम्भ दोनों रूप होते हैं। लोक में इट् आगम होने से जगृहिम रूप बनता है। उदा० 'जगृम्भा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम्।'

(४) ववर्थ—'वृ + लिट् = सिप् = थल्, द्वित्वादि कार्य, इट् का अभाव, ऋ का गुण, रपर—ववर्थ। लोक में इट् होने से ववरिथ रूप होता है। यद्यपि वृञ् से इट् का अभाव तो 'कृसृभृ' (७।२।१३) आदि सूत्र से ही सिद्ध था फिर भी यह निपातन करना नियमार्थ है कि वेद में ही इट् का अभाव होता है लोक में इट् होता है। इसीलिये मूल में लोक में 'ववरिथ' लिखा गया है।।(क)।।

वेद में 'सनिंससनिवांसम्' यह रूप निपातित होता है। सनिम् पूर्वक सन् (षण संविभक्तौ) या सनु (षणु दाने) इस धातु से क्वसु प्रत्यय, इडागम निपातित होते हैं और एत्वाभ्यास लोप का अभाव भी निपातित होते हैं। सनिम् + सन् + क्वसु

---

१. 'छन्दसीदं निपातेन विज्ञायते। भाषायां 'सेनिवांसमि'ति भवति। इति काशिका। ''क्वसोश्छान्दसत्वात्, आनुपूर्व्याश्च विवक्षितत्वात् छन्दस्येवेदं निपातनम्।'' इति पदमञ्जरी।

'अञ्जित्वाग्ने सनिंससनिवांसम्।' (आप. श्रौ. १।३।४।१६)

*** पावकादीनां छन्दसि[1] प्रत्ययस्थात्कादित्वं नेति वाच्यम्। (वा० ७।३।४५)** 'हिरण्यवर्णा शुचयः पावकाः।' (अ. वे. १।३३।१)

(१९८) ३५८४ घोर्लोपो लेटि[2] वा (७-३-७०) 'दधद्रत्नानि

= वस् लिड्वद्भाव होने से धातु का द्वित्व और अभ्यादिकार्य करने के बाद सनिम् ससन् + वस्, यहाँ 'नेड्वशि कृति' (७।२।८) सूत्र से इट् का निषेध प्राप्त है किन्तु प्रस्तुत सूत्र से इडागम होता है, एत्व अभ्यासलोप नहीं होता है—सनिम् ससन् इवस् + अम् 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७।१।८०) से नुम् का आगम, 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।१०) सूत्र से उपधा का दीर्घ, सनिम् के म् का अनुस्वार कर देने पर—सनिंससनिवांसम् रूप बनता है। उदा० 'अञ्जित्वाग्ने सनिंससनिवांसम्।' लोक में यह प्रयोग नहीं होता है। यदि होगा भी तो 'संसेनिवांसम्' ऐसा होना चाहिये।।१९७।।

('प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' (७।३।४४) यह सूत्र प्रत्ययस्थ क के बाद यदि 'आप्' प्रत्यय होता है तो 'क' के पूर्व वाले अ का इत्व करता है, जैसे—सर्विका आदि। इस वचन पर यह वार्तिक है—)

* वेदविषय में पावका आदि शब्दों के क से पूर्व अ का इत्व नहीं होता है—ऐसा कहना चाहिये।*

उदा० हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः। पुनन्ति, पावयन्ति वा—इस विग्रह में पु अथवा णिजन्त पु = पावि धातु से ण्वुल् = अक, णि का लोप, पु के उकार की वृद्धि, औ का आव् आदेश—पावक + टाप् = आ, यहाँ इत्व प्राप्त है वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है।।(क)।।

लेट् लकार में घुसंज्ञक दा और धा धातुओं (के अन्तिम वर्ण) का लोप विकल्प से हो जाता है।

---

१. 'पावकादीनां छन्दस्युपसंख्यानम्' इत्येव वार्तिकम्, शेषस्तु स्पष्टार्थम्।

२. घुसंज्ञकानां लेटि परतो लोपो वा भविष्यति। सूत्रे वावचनं किमर्थम्? लोपे सत्यपि कृते आडागमे—ददादिति रूपं सिध्यतीति चेत्? वाग्रहणं विस्पष्टार्थमिति काशिकाकाराः। हरदत्तस्तु—'अन्ये त्वाहुः—ज्ञापकार्थं वा ग्रहणम्, एतज् ज्ञापयति —अनित्यमागमशासनमिति। अनित्ये तु असति आडागमे 'ददाति' ति न स्यादिति तत्सिद्धये वाग्रहणमिति।''

'अलोऽन्त्यस्य' इति बलेनान्त्यस्यैव लोपः। विकल्पतया लोपाभावे—'ददात्' इति मूले 'यदग्नये ददात्' इतः पूर्वं—'न च भवति' इत्यंशो योज्यः।

दाशुषे।' (ऋ. ४।१५।३) 'सोमौ ददद् गन्धर्वाय।' (ऋ. १०।८५।४१) 'यदग्निरग्नयै ददात्।'

(१९९) ३५८५ मीनातेर्निगमे[1]। (७-३-८१) शिति ह्रस्वः। 'प्रमिणन्ति व्रतानि।' (ऋ. १०।१०।५) लोके प्रमीणन्ति।

'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६।२२२५)।

उदा० दधद्रत्नानि दाशुषे। सोमो ददद् गन्धर्वाय। धा + लेट्, शप् का श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, अभ्यासादि कार्य दधाति। प्रस्तुत सूत्र से आ लोप—दध् + ति, 'लेटोऽडाटौ' (३।४।९४) सूत्र से अट् का आगम 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (३।४।९७) सूत्र से ति के इ का लोप—दधत्, जश्त्व, दधद्। दा + लेट्, शप् का श्लु, द्वित्वादि के बाद आ का लोप दद् + ति, अट् आगम, इलोप—ददत्, जश्त्व, ददद्। 'यदग्निरग्नये ददात्।' दद् + ति में आट् आगम, इलोप करने पर—ददात् रूप होता है अथवा आलोप के वैकल्पिक होने के कारण आ का लोप न करने पर भी ददात् रूप बनता है॥१९८॥

वेदविषय में शित् प्रत्यय परे रहने पर 'मीञ् हिंसायाम्' धातु का ह्रस्व आदेश हो जाता है।

उदा० प्र + मी + लट् = झि = अन्ति, क्र्यादिगणीय होने से श्ना विकरण—प्र मी ना अन्ति, 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) सूत्र से 'ना' के आ का लोप, 'हिनुमीना' (७।४।१५) सूत्र से णत्व और प्रस्तुत सूत्र से 'मी' का ह्रस्व—प्रमिणन्ति व्रतानि। लोक में ह्रस्व नहीं होने से प्रमीणन्ति यह रूप होता है॥१९९॥

अस् धातु तथा सिजन्त के बाद अपृक्त प्रत्यय को ईट् आगम होता है।

---

१. 'ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति' (७।३।७५) इत्यतः 'शिति' इति, 'ष्वादीनां ह्रस्वः' (७।३।८०) इत्यतो 'ह्रस्वः' इत्यनुवर्तते। 'अङ्गस्य' (६।४।१) इत्यधिकारान्तर्गतत्वेनाङ्गस्यैव ह्रस्वो बोध्यः।

(२००) ३५८६ बहुलं[1] छन्दसि। (७-३-९७) 'सर्वमा इदम्।' **आसीदिति प्राप्ते।** [अस्तेर्लङ् तिप् ईडभावः अपृक्तत्वाद्धल्ङ्यादिलोपः। **रुत्वविसर्गौ।** संहितायां तु 'भो भगो–' (सू० १६७) (८।३।१७) इति **यत्वम्।** 'लोपः शाकल्यस्य' (सू० ६७) (८।३।१९) इति यलोपः। **गोभिरक्षाः।** (ऋ. ९।१०७।९) सिच इडभावश्छान्दसः। अट्। शेषं पूर्ववत्]

वेदविषय में यह ईट् बहुलरूप से होता है अर्थात् होता भी है और नहीं भी होता है।

उदा० सर्वमा इदम्। अस् + लुङ = तिप्, आट्, वृद्धि, शप् और उसका लुक्, इलोप—आस् + त्, बहुल के कारण ईट् आगम का अभाव, अपृक्त हल् त् का लोप 'हल्ङ्यादि' सूत्र से कर देने पर—आस् बचता है, स् का रुत्व विसर्ग—आः रूप बनता ह। आः + इदम् यहाँ स् का रु और रु का य् 'भोभगोअघो' (८।३।१७) सूत्र से होता है और 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) से उस य् का लोप हो जाता है—आ इदम्। लोक में 'आसीत्' होता है।

दूसरा उदा० गोभिरक्षाः। 'क्षर संचलने' धातु से लुङ्, तिप्, सिच्, अट्—अक्षर् + स् + तिप्, 'हल्ङ्यादि' सूत्र से तिप् का लोप, 'रात्सस्य' (८।२।२४) सूत्र से सिच् के स् का लोप, 'अतो ल्रान्तस्य' (७।२।२) सूत्र से वृद्धि अक्षार्, र का विसर्ग कर देने पर—अक्षाः रूप होता है। इसमें सिच् को इट् आगम का अभाव भी निपातित होता है। साथ ही अपृक्त को ईट् आगम भी नहीं होता है। लोक में दोनों आगम होते हैं—अक्षारीत् रूप बनता है।

विमर्श—कुछ व्याख्याकारों ने 'अक्षाः' शब्द की मानमानी व्युत्पत्ति कर डाली

---

१. 'अस्ति' सिचोऽपृक्ते' इति सूत्रे 'अस्' धातोः 'इक् श्तिपौ धातुनिर्देशे' इति श्तिप् इति तिप् = पित् प्रत्ययो बोध्यः। अत्र—सिच् च अस्तिः च' इत्येव विग्रहः इति दीक्षितः, तत्त्वबोधिनीकारश्च, अन्यथाऽनिष्टरूपापत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः। समाहारद्वन्द्वः। सिच् शब्दस्य सौत्रं भत्वम्—सिचस्। अस्ति—इत्यनेन कर्मधारयः—अस्ति-सिचस् इति। ततः परस्याः पञ्चम्याः सौत्रो लुक्। तेन 'अस्ती' त्युभयोर्विशेषणम् —विद्यमानात् सिचोऽस्तेश्च परस्यापृक्तहलः ईडागमः इति सूत्रार्थः। ''अपृक्ते' इत्यत्र षष्ठ्यर्थे व्यत्ययेन सप्तमी, तेन 'अपृक्तस्य हलः' इत्यर्थो बोध्यः। अस्य सूत्रस्य छन्दसि बहुलं प्रवृत्तिः। सर्वम् 'आः' इति ईडभावे रूपम्। 'गोभिर्' 'अक्षाः' इति 'क्षर संचलने' धातोर्लुङि, ईडाभावे रूपम्। अत्र ईडभावस्यैवोदाहरणम्। ईडागमस्योदाहरणानि लोके वेदे च प्रसिद्धानीति नोदाहृतानि।

'ह्रस्वस्य गुणः' (७।३।१०८।२४२)। **'जसि च'** (७।३।१०९। २४१)।

*** जसादिषु[1] छन्दसि वावचनं प्राङ् णौ चङ्युपधायाः।** * (इत्येतस्मात्) **'अधा शतक्रत्वो यूयम्।'** (ऋ. १०।९७।२) **शतक्रतवः।** **'पश्वे नृभ्यो यथा गवे।'** (ऋ. १।४३।२) **पशवे।**

है जो काशिका की मान्य व्याख्याओं न्यास और पदमञ्जरी से सर्वथा विरुद्ध है। अतः आगे प्रदर्शित की गई व्युत्पत्ति भ्रामक तथा दुरूह है—

"क्षि + लुङ् = सिप् अट्, सिच्, अ क्षि + सिच् + सि, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र से वृद्धि, सि के इ का लोप अ क्षै स् स्। अपृक्त स् का 'हल्ङ्यादि' सूत्र से लोप, सिच् के इट् का अभाव भी छान्दस होने से होता है, ईट् का अभाव प्रस्तुत सूत्र के बहुल के कारण—अक्षैस्, इट् न होने पर उसे मान कर ऐ का आय् आदेश य् का लोप, स् का विसर्ग कर देने पर रूप बनता है—अक्षाः।"

यह व्युत्पत्ति भ्रामक है क्योंकि 'क्षर' धातु से रूप बनाना ही प्रमाणिक है।

सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्वान्त अङ्ग का गुण होता है। जैसे—साधु + सु = हे साधो! आदि।

जस् परे रहते भी ह्रस्वान्त अङ्ग का गुण होता है। जैसे—अग्नि + जस्, गुण—अग्ने + अस्, अय् आदेश—अग्नयः। इस लौकिक विधि का वेद में अलग विधान है। * वेदविषय में जसादि परे रहते 'वा' अर्थात् विकल्प का विधान कहना चाहिये। कहाँ तक? 'णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः' (७।४।१) इस सूत्र तक। अतः यहाँ की विधियाँ = सूत्र वैदिक प्रयोगों में विकल्प से प्रवृत्त होने से दो-दो प्रकार के रूप होते हैं।

जैसे—शतक्रत्वः, शतक्रतवः। शतक्रतु + जस्, गुण होने पर—शतक्रतवः और गुण न होने पर उ का यण् होने से शतक्रत्वः। इसी प्रकार—पश्वे नृभ्यो यथा गवे। पशु + ङे = ए, जब 'घेर्ङिति' (७।३।१११) सूत्र से गुण और ओ का अव् आदेश होता है तब—पशवे। पक्ष में उ का यण् होने पर—पश्वे रूप भी बनता है।

---

१. 'जसादि'ष्वि'त्यत्र 'आदि' शब्दः प्रकारे, तेन पूर्वयोगनिर्दिष्टानामपि ग्रहणम्' इति पदमञ्जरी, शेखरश्च। अतः एव सम्बुद्धावसम्बुद्धौ सर्वत्र विकल्पः, तथैवोदाहरणानि दत्तानीति बोध्यम्।

नाभ्यस्तस्याचि (७।३।८७।२५०३) इति निषेधे * **'बहुलं छन्दसी'ति वक्तव्यम्।*** **'अनुषग्जुजोषत्।'** (ऋ. ३।४।१०)

(२०१) ३५८७ **नित्यं छन्दसि[2]** (७-४-८) **छन्दसि विषये चङ्युपधाया ऋवर्णस्य ऋन्नित्यम्। अवीवृधत्।**

जिसकी उपधा में लघु वर्ण है ऐसे अभ्यस्तसंज्ञक का गुण, अजादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते, नहीं होता है। * यह निषेध वेदविषय में बहुलरूप से कहना चाहिये। *

उदा० जुजोषत्। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' धातु से लेट्, आत्मनेपदी होने पर भी व्यत्यय से परस्मैपद तिप् जुष् + ति, 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' (३।४।९७) से इलोप, 'लेटोऽडाटौ' (३।४।९४) सूत्र से अट् आगम, शप् का व्यत्यय से श्लु, 'श्लौ' (६।१।१०) सूत्र से धातु का द्वित्व अभ्यासकार्य, जु जुष् + अ + त्, यहाँ गुणनिषेध न होकर गुण ही हो गया—जुजोषत्।।२००।।

('उर्ऋत्' ४।७।७) लोक में चङ्परक णि परे रहते उपधा के ऋवर्ण के स्थान पर विकल्प से ऋवर्ण होता है पक्ष में इर् अर् आर् आदेश भी होते हैं।)

किन्तु वेदविषय में उक्त ऋ का ॠ आदेश नित्य ही होता है, विकल्प से नहीं।

उदा० अवीवृधत्। 'वृधु वर्धने' णिच्, लुङ् = तिप्, अट्—अवृध् णि + ति, च्लि, च्लिका चङ् = अ, ति में इ का लोप, 'चङि' (६।१।११) सूत्र से द्वित्व अभ्यासकार्य—अवृ वृध् + अत् 'उरत्' सूत्र से ऋ का अ, 'उरण् रपरः' से रपर, 'हलादिशेष—अववृध् + अ त्, सन्वद्भाव कर देने से 'सन्यतः' सूत्र से अ का इ, 'दीर्घो लघोः' सूत्र से इ का दीर्घ—अवीवृध् + अत् = अवीवृधत्। लोक में 'उर्ऋत्' सूत्र से विकल्प से ऋ होता है अतः पक्ष में ऋ का गुण, रपर होकर अववर्धत् तथा अवीवृधत् ऐसे दो रूप होते हैं।।२०१।।

---

१. अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्याजादौ पिति सार्वधातुके गुणो न भवतीति सूत्रार्थः। अस्य छन्दसि बहुलं प्रवृत्तिः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' लेट्, व्यत्ययेन परस्मैपदम्, तिप् 'इतश्च लोपः परस्मैपदेषु' इति इलोपः, 'लेटोऽडाटौ' इत्यट्, तुदादित्वात् शः, तस्य 'बहुलं छन्दसि' इति व्यत्ययेन श्लुः, 'श्लौ' इति द्वित्वम्, लघूपधगुणः—जुजोषत् इति अत्र उपधाह्रस्वो न भवति।

२. अत्र 'णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः' (७।४।१) इति सूत्रम् 'उर्ऋत्' (७।४।७) (ऋकारस्य ॠकारादेशो भवति) इति सूत्रं चानुवर्तते। अङ्गस्याधिकारः।

(२०२) ३५८८ न छन्दस्यपुत्रस्य[1]। (७-४-३५) पुत्रभिन्नस्या-दन्तस्य क्यचि ईत्वदीर्घौ न। मित्रयुः (मै. २।६।१२) **'क्याच्छन्दसि'** (३।२।१७०।३१५०) इति उः।

अपुत्रस्य किम्-'पुत्रीयन्तः सुदानवः।' * **अपुत्रादीनामिति वाच्यम्।***[2] 'जनीयन्तोन्वग्रवः।' (ऋ. ७।९६।४) जनमिच्छन्त इत्यर्थः।

(२०३) ३५८९ दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति[3]। (७-४-३६) एते क्यचि निपात्यन्ते। भाषायां तु उप्रत्ययाभावात्। दुष्टीयति। द्रविणीयति। वृषीयति। रिष्टीयति।

(क्यच् प्रत्यय परे रहते अकारान्त शब्द का ईत्व आदेश होता है किन्तु) वेदविषय में पुत्र से भिन्न अदन्त शब्द से क्यच् परे ईत्व और दीर्घ आदेश नहीं होते हैं अर्थात् केवल पुत्र शब्द के ही ये दोनों कार्य होते हैं।

उदा० मित्रयुः। आत्मनः मित्रम् इच्छति—इस अर्थ में 'सुप आत्मनः क्यच्' (३।१।८) सूत्र से क्यच् प्रत्यय, धातुसंज्ञा, विभक्तिलोप—मित्र + य, इस दशा में प्राप्त ईत्व का निषेध होता है। 'क्याच्छन्दसि (३।२।१७०) सूत्र से 'उ' प्रत्यय, अलोप, प्रातिपादिक संज्ञा, सु, विसर्ग—मित्रयुः।

पुत्र से भिन्न के ही ईत्व और दीर्घ का निषेध होता है—इसका क्या फल है? 'पुत्रीयन्तः सुदानवः। पुत्रम् आत्मनः इच्छति—यहाँ ईत्व का निषेध न होकर ईत्व होता है। शतृप्रत्ययान्त प्रथमा बहुवचन का रूप है।

* इसमें केवल पुत्रभिन्न न कहकर पुत्रादि से भिन्नों का ईत्व और दीर्घ का निषेध करना चाहिये। *

उदा० 'जनीयन्तोऽन्वग्रवः। यहाँ जनम् इच्छन्तः आत्मनः—इस विग्रह मे क्यच् करने पर ईत्व का निषेध न होने से ईत्व होकर उक्त रूप शतृप्रत्ययान्त प्रथमा बहुवचन का है॥२०२॥

दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति तथा रिषण्यति—ये चार शब्द रूप वेदविषय में निपातित होते हैं क्यच् परे रहते। लोक में उ प्रत्यय आदि न होने से—दुष्टीयति, द्रविणीयति, वृषीयति तथा रिष्टीयति ऐसे रूप होते हैं।

उदा० दुष्टम् आत्मन इच्छति—इस अर्थ में क्यच् प्रत्यय परे रहते दुष्ट शब्द का दुरस् आदेश निपातित होता है—दुरस् य उ प्रत्यय करने पर—दुरस्युः। किन्तु लोक में उ प्रत्यय न होने से—दुष्टीयति—यही होता है। द्रविणम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच् करने पर द्रविण का द्रविणस् रूप निपातित होता है—द्रविणस्य रूप बनाने के बाद 'उ' प्रत्यय करने पर 'द्रविणस्युः' रूप होता है। लोक में द्रविणीयति' यही होता है। प्रातिपदिकसंज्ञा, सु, सु का विसर्ग होता है। आत्मनः वृषम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच् करने पर वृष का वृषण् आदेश निपातित होता है। लोक में तो 'वृषीयति' यह होता है। आत्मनः रिष्टम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच् करने पर रिष्ट शब्द का रिषण् आदेश निपातित होता है—रिषण्यति। लोक में 'रिष्टीयति' यह होता है॥२०३॥

---

१. 'ई घ्राध्मोः' (७।४।३१) इत्यतः 'ई' इति, 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इत्यतः 'अस्य' इति, 'क्यचि च' (७।४।३३) इत्यतः 'क्यचि' इति चानुवर्तते अङ्गस्य (६।४।१) इत्यधिकारश्च।

२. अत्र वार्तिके आदिग्रहणस्य फलं मृग्यम्। अतएव पदमञ्जरीकारः—'तत्रादिग्रहणस्य प्रयोजनान्तरं मृग्यम्।" इदमेव वाक्यं शेखरकारः उद्धृतवान्।

३. छन्दसि दुष्टशब्दस्य क्यचि दुरस्भावो निपात्यते। द्रविणस्य द्रविणस् भावो, वृषशब्दस्य वृषण्भावो, रिष्टशब्दस्य रिषण्भावश्च।' इति काशिका।

(२०४) ३५९० अश्वाघस्यात्[1]। (७-४-३७) अश्व, अघ-एतयोः क्यचि आत् स्याच्छन्दसि। 'अश्वायन्तो मघवन्।' (ऋ.७।३२।२३) 'मात्वा वृका अघायवः।' (काठ. २।७।३९) **'न च्छन्दसि'** (७।४।३५।३५८८)

अश्व तथा अघ शब्दों को आत् आदेश क्यच् परे रहते होता है।

उदा० 'अश्वायन्तो मघवन्।' 'मा त्वा वृका अघायवः।' आत्मनः अश्वम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच् करने पर प्रस्तुत सूत्र से अ का आ आदेश कर देने पर अश्वायति। शतृ प्रत्यय प्रथमा बहुवचन में 'अश्वायन्तः' रूप होता है। इसी प्रकार अघम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच् करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से आत्व आदेश 'अघाय' बनाकर 'उ' प्रत्यय, प्रथमा बहुवचन का रूप है—अघायवः।

ऊपर 'न छन्दस्यपुत्रस्य' (७।४।३५) इस सूत्र से क्यच् परे रहते 'क्यचि च' (६।४।३३) सूत्र से प्राप्त होने वाले ईत्व का ही निषेध नहीं होता है अपितु 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) सूत्र से प्राप्त दीर्घ का भी निषेध होता है अर्थात् दोनों कार्यों का निषेध होता है। इन दोनों के निषेध को सिद्ध करने में प्रस्तुत सूत्र

---

१. 'क्यचि' इत्यनुवर्तते।

इति निषेधो नेत्त्वमात्रस्य, किन्तु दीर्घस्यापीति। अत्रेदमेव सूत्रं ज्ञापकम्[1]।

(२०५) ३५९१ देवसुम्नयोर्यजुषि काठके[2]। (७-४-३८) अनयोः क्यचि आत् स्याद्यजुषि कठशाखायाम्। 'देवायन्तो यजमानाः।' 'सुम्नायन्तो हवामहे।' (काठक. ८।१७।७६)

इह यजुःशब्दो न मन्त्रमात्रपरः किन्तु वेदोपलक्षकः। तेन ऋगात्मकेऽपि मन्त्रे यजुर्वेदस्थे भवति। किं च, ऋग्वेदेऽपि भवति स चेन्मन्त्रो यजुषि कठशाखायां दृष्टः।

से आत्व का विधान ही प्रमाण है। क्योंकि यदि केवल ईत्व का निषेध किया जाता तब तो 'अश्व' और 'अघ' आदि शब्दों का दीर्घ क्यच् परे हो ही जाता जिसके कारण प्रस्तुत सूत्र से आत्वविधान की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। चूँकि इस सूत्र से आत्व किया गया है यह इस बात को ज्ञापित करता है कि दीर्घ का भी निषेध होता है अतः दीर्घ आ करने के लिये प्रस्तुत सूत्र सफल (चरितार्थ) होता है॥२०४॥

यजुर्वेद की कठ शाखा में क्यच् परे रहते देव तथा सुम्न शब्दों का आकारादेश होता है।

उदा० 'देवायन्तो यजमानाः।' 'सुम्नायन्तो हवामहे।' देवम् इच्छन्ति, सुम्नम् इच्छन्ति—इस विग्रह में क्यच् करने के वाद प्राप्त ईत्व न करके प्रस्तुत सूत्र से आत्व आदेश होता है—देवाय, सुम्नाय, शतृ प्रत्यय, प्रथमा बहुवचन के रूप हैं।

इस सूत्र में यजुः शब्द से पारिभाषिक रूप में मन्त्रभागमात्र नहीं लेना चाहिये अपितु वेदमात्र लेना चाहिये। इस कारण ऋग्वेद में पठित जो मन्त्र यजुर्वेद में हैं उनमें भी इन शब्दों का आत्व होता है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि यदि कोई मन्त्र यजुर्वेद में कठ शाखा में है वह यदि ऋग्वेद में भी है तो उसमें भी इन शब्दों का आत्व होता है।

---

१. ननु 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इति वचनात् अनन्तरस्य 'क्यचि च' (७।४।३३)इति सूत्रेण प्राप्तस्य ईकारादेशस्यैव प्रतिषेधेन भाव्यम्, न तु व्यवहितस्य 'अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः' (७।४।२५) इत्यनेन प्राप्तस्य दीर्घस्य इति चेत्, नैष दोषः, 'अश्वाघस्यात्' इति सूत्रेणाश्वाघशब्दयोरात्वविधानं ज्ञापकम् —'दीर्घत्वस्याप्ययं निषेधः', अन्यथा अकारस्य दीर्घत्वेनैव सिद्धत्वादाकारविधानमनर्थकं स्यात् इति न्यासपदमञ्जर्यादयः। अत आत्वस्य दीर्घत्वस्य चोभयोरपि प्रतिषेधः।

२. 'अश्वाघस्यात्' (७।४।३७) इत्यतः 'आत्' 'क्यचि' इति चानुवर्तते।

यजुषीति किम्-'देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।' (ऋ. ३।२७।१) बह्वृचानामप्यस्ति कठशाखा ततो भवति प्रत्युदाहरणमिति हरदत्तः।

(२०६) ३५९२ कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः।[1] (७-४-३९) (कवि, अध्वर, पृतना-इति) एषामन्त्यस्य लोपः स्यात् क्यचि ऋग्विषये। 'सपूर्वया निविदा कव्यतायोः।' (ऋ. १।९६।२) 'अध्वर्युं वा मधुपाणिम्। (ऋ. १०।४१।३) दमयन्तं पृतन्युम्।'

'दधातेर्हिः' (७।४।४२।३०७६)

यजुर्वेद में पठित हो—इसका क्या फल है? 'देवाञ्जिगाति सुम्नयुः।' इसमें आत्व आदेश नहीं होता है क्योंकि यह यजुर्वेद में नहीं है। क्योंकि बह्वृचों = ऋग्वेदियों की भी कोई एक कठ शाखा होती है। इसी कारण यह उक्त उदरण प्रत्युदाहरण बन जाता है, ऐसा पदमञ्जरीकार हरदत्त का कथन है। काठक शाखा—ऐसा कहने से इससे भिन्न शाखा में यह आत्व नहीं होता है। कठानाम् इदम् इति काठकम्—ऐसी व्युत्पत्ति करके 'गोत्रचरणाद् वुञ्' (४।३।१२६) सूत्र से कठ शब्द से वुञ् = अक प्रत्यय करना चाहिये—कठ + अक, आदिवृद्धि—काठकम्॥२०५॥

कवि, अध्वर तथा पृतना—इन शब्दों के अन्त्य अक्षर का लोप होता है क्यच् पर रहते ऋग्वेद के विषय में।

उदा० 'सपूर्वया निविदा कव्यतायोः।' कविम् इच्छति—इस विग्रह में कवि शब्द से क्यच्—कवि + य, कवि के अन्त्य अक्षर इ का लोप करने पर—कव्य। लोट् मध्यमपुरुष बहुवचन में—कव्यत + आयोः = दीर्घ, कव्यतायोः। 'अध्वर्युं वा मधुपाणिम्।' अध्वरम् इच्छति—इस अर्थ में अध्वर + य, अ का लोप—अध्वर्य, 'उ' प्रत्यय करने पर 'अध्वर्युः' रूप बनता है।

दमयन्तं पृतन्युम्। पृतनाम् इच्छति—इस अर्थ में क्यच्-पृतना + य, आ का लोप, पृतन्य, उ प्रत्यय, अलोप—पृतन्युम्। इन उदाहरणों की अपेक्षा काशिका में प्रस्तुत उदाहरण अधिक सुबोध है—कव्यन्तः सुमनसः। अध्वर्यन्तः। पृतन्यन्तस्तिष्ठन्ति॥२०६॥

लोक में 'धा' धातु का 'हि' आदेश तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते होता है। जैसे—धा + क्त = हि + त, हितम्। धा + क्त्वा = हित्वा।

---

१. 'क्यचि' इत्यनुवर्तते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यन्तस्यैव लोपः। कविश्च, अध्वरश्च पृतना च—इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वः, नपुंसकैकवचने षष्ठ्यन्तम्।

'जहातेश्च क्त्वि' (७४।४३।३३३१)

(२०७) ३५९३ **विभाषा छन्दसि**[1] (७-४-४४) हित्वा शरीरम्। (तै. ब्रा. २।५।६।५) हीत्वा वा।

(२०८) ३५९४ **सुधित-वसुधित-नेमधित-धिष्व-धिषीय च।** (७-४-४५) सु, वसु, नेम-एतत्पूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये इत्वं निपात्यते। 'गर्भं माता सुधितं वक्षणासु।' (ऋ. १०।२७।१६) 'वसुधितमग्नौ नेमधिता

'हा' धातु का भी हि आदेश क्त्वा परे रहते होता है। हा + क्त्वा, हित्वा।

वेदविषय में 'हा' का 'हि' आदेश विकल्प से होता है। उदा० हित्वा शरीरम् हीत्वा। हात्वा। 'ओहाक्त्यागे' धातु के 'हा' का 'हि' आदेश विकल्प से होता है— हा + क्त्वा, हि करने पर हित्वा। 'हि' न करने पर हा + त्वा, 'घुमास्था गापाजहातिसां हलि' (६।४।६६) सूत्र से ईत्व आदेश करने पर—हीत्वा। जहाँ ईत्व नहीं है वहाँ बाहुलक के कारण ईत्वाभाव मानना चाहिये—हात्वा। इसी लिये काशिका में 'हात्वा' ऐसा लिखा है।

विमर्श—यहाँ ध्यान रखना चाहिये कि यह विकल्प केवल 'जहातेश्च' (७।४।४३) से ही अर्थात् 'हा' धातु से सम्बद्ध है इससे पूर्ववर्ती 'दधातेर्हि' (७।४।४२) से नहीं। अत: उस 'धा' के 'हि' आदेश को नित्य ही समझना चाहिये और 'हित्वा' यही रूप मानना चाहिये न कि 'हि' के अभाव में 'धात्वा' ऐसा भी।।२०७।।

सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व और धिषीय—ये पाँच शब्द वेदविषय में निपातित होते हैं अर्थात् क्त प्रत्यय परे रहते जिस 'धा' धातु के पूर्व में सु, वसु तथा नेम ये शब्द होते हैं उस 'धा' का इत्व आदेश निपातित होता है। उदा० 'गर्भं माता सुधितं वक्षणासु।' 'वसुधितमग्नौ।' 'नेमधिता न पौंस्या।' सु + धा + क्त, वसु + धा + क्त, नेम + धा + क्त। इनमें धा का हि आदेश नहीं होता है अपितु आ का इत्व आदेश निपातित होता है। काशिकाकार ने इत्व आदेश अथवा इट् आगम का विधान माना है। इट् आगम करने पर आ का लोप करना होता है—'आतो लोप इटि च' इस सूत्र से। इसीलिये लाघव को मानकर दीक्षित ने इत्व आदेश का ही

१. 'दधातेर्हि' (७।४।४२) इत्यतो 'हि' इति, 'जहातेश्च क्त्वि' (४।७।४३) इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते, अङ्गस्याधिकारः। इदम् 'ओहाक् त्यागे' इत्यस्यैव विकल्पत्वं सूचयति। स्पष्टार्थ 'दधातेर्हि' इत्यपि उद्धृतम्।

न पौंस्या।' (ऋ. १०।९३।१३)

क्त्न्यपि दृश्यते। 'उत श्वेतं वसुधितिं निरेके।' 'धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते।' धत्स्वेति प्राप्ते। सुरेता रेतो धिषीय। (तै. १।६।४।४) आशीर्लिङ इट्। 'इटोऽत्' (३।४।१०६।२२५७) धासीयेति प्राप्ते।

'अपो भि' (७।४।४८।४४२)।

निपातन माना है। लोक में धा का हि होने से—सुहितम्, वसुहितम्, नेमहितम् रूप होते हैं। वसुधितम्, नेमधितम्—इनमें कर्मधारय समास है—ऐसा पदमञ्जरीकार हरदत्त का कथन है। नागेश भी इनमें यही मानते हैं। किन्तु सायण ने 'वसूनां धातारं प्रदातारमित्यर्थ:—ऐसा लिखकर षष्ठीतत्पुरुष का भी संकेत किया है।

ये निपातन क्तिन् प्रत्यय परे भी होते हैं—'उत श्वेतं वसुधितिं निरेके।' वसु + धा + क्तिन्, इत्व करने पर 'धि' हो जाता है। किन्तु लोक में 'हि' आदेश होने से 'वसुहितम्' रूप होता है।

धिष्व और धिषीय भी धा धातु के ही रूप है। उदा० 'धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते।' धिष्व—धा + लोट्, आत्मनेपद में मध्यम पुरुष एकवचन में थास्, 'थास: से' सूत्र से थास् का 'से' आदेश धा + से, श्लु का अभाव, इत्व—धि + से, 'सवाभ्यां वामौ' (३।४।९१) सूत्र से ए का व आदेश—धि + स्व 'आदेशप्रत्यययो:' सूत्र से स् का मूर्धन्य ष्—धिष्व।

लोक में 'धत्स्व' रूप होता है। धा + स्व, 'शप् का श्लु, 'श्लौ' सूत्र से धातु का द्वित्व, अभ्यासकार्य दधा + स्व, 'श्नाभ्यस्तयोरात:' (६।४।११२) सूत्र से आ का लोप, ध् का चर्त्व—त्। दत् + स्व, 'दधस्तथोश्च' (८।२।३०) सूत्र से भष्भाव से द् का ध् आदेश—धत्स्व रूप होता है।

'सुरेता रेतो धिषीय।' धिषीय—धा + आशीर्लिङ् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन इट् प्रत्यय—धा + इ, इत्व—धि + इ, 'इटोऽत्' (३।४।१०६) सूत्र से इ का अ आदेश, 'लिङः सीयुट्' (३।४।१०२) सूत्र से सीयुट् = सीय् आगम— धि सीय् + अ, 'आदेशप्रत्यययो:' सूत्र से मूर्धन्य आदेश—धिषीय। लोक में— 'धासीय' यह रूप होता है। इत्व न होने से षत्व भी नहीं होता है।।२०८।।

भकारादि प्रत्यय परे रहने पर 'अप्' इस अङ्ग का 'त्' यह अन्त्य आदेश होता है।

*** मासश्छन्दसीति[1] वक्तव्यम्। * माद्भिः शरद्भिः।**

*** स्ववःस्वतवसोरुषसश्चेष्यते। * स्ववद्भिः।** अवतेरसुन्, शोभनमवो येषां ते स्ववसस्तैः। तु इति सौत्रो (७।३।९५) धातुस्तस्मादसुन्। स्वं तवो येषां तैः स्वतवद्भिः। 'समुषद्भिरजायथाः।' (ऋ. १।३६।३) मिथुनेऽसिः। (उणादि ६६२) वसेः किच्चेत्यसिप्रत्यय इति हरदत्तः (पदमञ्जरी

* वेदविषय में मास् का भी त् अन्त्य आदेश भकारादि प्रत्यय परे रहते होता है ऐसा कहना चाहिये।*

उदा० 'माद्भिः शरद्भिः।' मास + भिस्, 'पद्दन्नोमास०' (६।१।६३) सूत्र से मास का मास् यह आदेश करने के बाद वार्तिक से स् का त् और 'झलां जश् झशि' से जश्त्व से द् करने पर—माद्भिः रूप होता है। काशिका में इस वार्तिक की अलग से चर्चा नहीं है। अपितु अग्रिम वार्तिक में ही सम्मिलित रूप से मास् का भी उल्लेख है। दीक्षित ने दो वार्तिक क्यों बनाये, स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है।

* स्ववस्, स्वतवस्, तथा उषस् का भी त् अन्त्य आदेश भकारादि प्रत्यय परे रहते होता है।*

उदा० स्ववद्भिः। अव् धातु से असुन् = अस् प्रत्यय—अवः। शोभनम् अवः येषां ते सु + अवस्, स्ववसः तैः। स्ववस् + भिस्, स् का त्, जश्त्व से द्—स्ववद्भिः।

'तु' यह सौत्र धातु है अर्थात् 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७।३।९५) सूत्र में पठित है—इससे औणादिक असुन् = अस् प्रत्यय तु + अस्, गुण, अव् आदेश—तवः। स्वं तवः येषां ते, तैः। स्वतवस् + भिस्, स् का त्, जश्त्व से द्—स्वतवद्भिः।

समुषद्भिरजायथाः। 'मिथुनेऽसिः' 'वसेः किच्च'। वस् धातु से अस् प्रत्यय होता है और वह कित् होता है—वस् + अस्, कित् होने से वस् धातु के व् का सम्प्रसारण उ, अ का पूर्वरूप—उस् + अस्, 'शासिवसिघसीना च (८।३।६०) सूत्र से धातु के स् का ष्—उष् + अस्, सम् उपसर्ग—समुषस् + भिस्, स् का त्, जश्त्व, स् का रु—समुषद्भिरजायथाः।

१. *भाष्ये प्रथमं वार्तिकं द्वितीयं चेष्टिवचनम्। दीक्षितेनापि तथैव उद्धृतम्, किन्तु 'भि' = भकारादौ' इति न सकेतितम्। काशिकायामेकमेव वचनं दृश्यते। 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' (७।३४।९५) इति सूत्रे 'तु' इति धातुः पठितः, न धातुपाठादौ। अतः सौत्रोऽयम्।*

७।४।४८)। पञ्चपादीरीत्या तु उषः किदिति (उणादि ६७३) प्राग्व्याख्यातम्।

'न कवतेर्यङि' (७।४।६३।२६४१)

(२०९) ३५९५ **कृषेश्छन्दसि**[1]। (७-४-६४) यङि अभ्यासस्य **चुत्वं न। करीकृष्यते।**

(२१०) ३५९६ **दाधर्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्तेऽ-**

विमर्श—यहाँ हरदत्त ने 'वस' धातु से अस् प्रत्यय को कित् माना है। परन्तु वह उणादि सूत्र में उपलब्ध नहीं है। इसीलिये दीक्षित ने पञ्चपादी उणादि के 'उषः कित्' के आधार पर इस शब्द को सिद्ध किया है, जो अधिक उचित है। इसकी व्याख्या—'उषः कित्' (उणादि) उष् दाहे' इससे असि प्रत्यय होता है और वह कित् होता है—उष् + अस् = उषस्। कित् होने से गुण नहीं होता है। उषः = प्रभातम्। दशपादी उणादि के अनुसार 'वसेः कित्' उणादि सूत्र से अस् प्रत्यय को कित् मानकर वस् + अस् व् का सम्प्रसारण 'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) सूत्र से धातु के स् का ष् उष् + अस् = उषस्, सम् उपसर्गकपूर्वक उषस् से भिस् प्रत्यय में स् का द् होकर—'समुषद्भिः' रूप होता है। ऐसा हरदत्त का मानना है॥२०८॥

यङ् पर रहते 'कु' धातु के अभ्यास का चुत्व 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) सूत्र से नहीं होता है। उदा० कोकूयते।

वेदविषय में यङ् परे रहते कृष् धातु के अभ्यास का भी चुत्व नहीं होता है।

उदा० करीकृष्यते। कृष् + यङ्, 'सन्यङोः' से द्वित्व, अभ्यासकार्य, अत्त्व, रपर, हलादिशेष—क कृष् + य, 'रीगृदुधस्य च' (७।४।९०) सूत्र से रीक् का आगम—करीकृष्य, अभ्यास का चुत्व प्राप्त होता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो जाता है—करीकृष्य + लट्, त, एत्व—करीकृष्यते। लोक में चुत्व होता है—चरीकृष्यते। पुनः पुनः अतिशयेन वा कर्षति—यह विग्रह है॥२०९॥

(१) दाधर्ति, (२) दर्धर्ति, (३) दर्धर्षि, (४) बोभूतु, (५) तेतिक्ते, (६)

१. *'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतः 'अभ्यासस्य' इति, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) इत्यतः 'चुः' इति, 'न कवतेर्यङि' (७।४।६३) इत्यतः 'यङि' इति चानुवर्तते। 'अङ्गस्य' इत्यधिकारः।*

दाधर्त्ति-दर्धर्ति-दर्धर्षि-बोभूतु-तेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्करिक्रत्कनिक्रदद्भरिभ्रद्दविध्वतोद-विद्युतत्तरित्रतः सरीसृपतं वरीवृजन्मर्मृज्याऽऽगनीगन्तीति च। (७-४-६५) एतेऽष्टादश निपात्यन्ते। 'आद्यास्त्रयो धृङो धारयतेर्वा।

अलर्षि, (७) आपनीफणत्, (८) संसनिष्यदत्, (९) करिक्रत्, (१०) कनिक्रदत्, (११) भरिभ्रत्, (१२) दविध्वतः, (१३) दविद्युतत्, (१४) तरित्रत्, (१२) सरीसृपतम्, (१३) वरीवृजत्, (१७) मर्मृज्य, (१८) आगनीगन्ति—ये अट्ठारह शब्दरूप वेदविषय में निपातित होते हैं।

(१-३) इनमें प्रथम तीन—**दाधर्त्ति, दर्धर्ति** और **दर्धर्षि**—ये तीन रूप 'धृङ् अवस्थाने' इस धातु से अथवा इसी धातु से णि प्रत्यय करके 'धारि' इससे निष्पन्न होते हैं। धृ अथवा धृ + णिच् = धारि किसी से भी शप् और उसका श्लु = लुक् करके णिलोप के बाद प्रत्यय-लक्षण से द्वित्व और अभ्यासदिकार्य करने के बाद द धृ + ति, अभ्यास का दीर्घ निपातन से—दाधृ + ति, ऋ का गुण, रपर—(१) दाधर्ति, जब अभ्यास का दीर्घ नहीं करते हैं तब रुक् का आगम करने पर—(२) दर्धर्ति रूप होता है। ये दोनों प्रथम पुरुष एकवचन के रूप हैं। जब मध्यम पुरुष एकवचन में सिप् प्रत्यय करते हैं। तब 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से इण् परे स् का ष् होने से (३) दर्धर्षि रूप बनता है।

केवल धृङ् से तो आत्मनेपदी होने से निपातन से परस्मैपद तथा श प्राप्त रहते व्यत्यय से शप् और श्लु करके अभ्यास का दीर्घत्व भी निपातन से ही किया जाता है। श्लु मानकर द्वित्व तथा आभ्यासकार्य होते हैं।

जब धृ + णिच् से उक्त रूप बनाते हैं तब णि का लोप 'णेरनिटि' सूत्र से कर दिया जाता है।

यङ्लुगन्त के रूप न मानने वाले इनमें तुदादिगणीय श विकरण का श्लु निपातन से करते हैं और इसी कारण 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व करके शेष कार्य पूर्ववत् करते हैं। जो भी कार्य सूत्रों से संभव नहीं है, जैसे रुक् आगम आदि वे सभी निपातन से कर लेने चाहिये। अतः श्लु में परस्मैपद भी निपातन से ही करना

१. यदा धारयतेः श्लौ निपात्यते तदा णिलोपोऽभ्यासस्य दीर्घत्वं च निपात्यते। यदा तु यङ्लुकि तदा 'धारयतेः' इत्यस्यानेकाच्त्वाद् यङ् न प्राप्नोतीति सोऽपि निपात्यते, उपधाह्रस्वत्वं च। णिलोपस्तु यङः आर्धधातुकत्वादेव 'णेरनिटि' इत्यनेन सिद्धः। अभ्यासदीर्घत्वमपि 'दीर्घोऽकितः' इत्येव सिद्धम्। यदा तु धृङो निपात्यते तदा परस्मैपदमपि निपात्यम्, तस्यैव यङ्लुकि अभ्यासदीर्घत्वं निपात्यते। यङ्लुकि रुगागमः सिद्धः किन्तु श्लौ सोऽपि निपात्यः।

भवतेर्यङ्लुगन्तस्य गुणाभावः। तेन भाषायां गुणो लभ्यते। तिजेर्यङ्लुगन्तात्तङ्[1]।

चाहिये। अभ्यास के दीर्घत्व अथवा दीर्घत्वाभाव को भी निपातन के बल से समझना चाहिये। यङ्लुगन्त में मानने पर 'पुनः पुनः अतिशयेन वा धरति' ऐसा विग्रह करना चाहिये। अतः श्लु वाले रूप सामान्य अर्थ में निष्पन्न करना अधिक उचित है। इसीलिये काशिकाकार ने पहला विकल्प श्लु वाला और दूसरा यङ्लुक् वाला माना है। दीक्षित ने अपना कोई मत नहीं रखा है।

(४) **बोभूतु**—भू + यङ्, लुक्, भू + लोट् = ति, प्रत्ययलक्षण मानकर द्वित्व तथा अभ्यासकार्य, 'एरुः' (३।४।८६) सूत्र से ति के इ का उ, 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र से अभ्यास के उ का गुण, बोभूतु—यहाँ सार्वधातु प्रत्यय परे मानकर भू के ऊ का गुण प्राप्त है, उसका अभाव निपातन द्वारा किया जाता है—बोभूतु।

(यद्यपि 'भुसुवोस्तिङि' (७।३।८८) सूत्र से भी गुण का निषेध संभव है, फलतः यह गुणाभाव का निपातन व्यर्थ होने लगता है। अतः यह ज्ञापक बन जाता है और ज्ञापित करता है कि 'भुसुवोस्तिङि' यह सूत्र सीमित क्षेत्र में ही गुणनिषेध करता है, यङ्लुक् में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है, गुणनिषेध प्राप्त नहीं है अतः निपातन द्वारा गुणाभाव किया गया है। साथ ही यह भी ज्ञापित होता है कि लौकिक प्रयोग में यह गुणनिषेध नहीं होता है जिससे 'बोभोति' और ईट् करने पर 'बोभवीति' ये रूप लोक में प्रयुक्त होते हैं क्योंकि लोक में गुण होता है।)

(५) **तेतिक्ते।** 'तिज निशाने—धातु से यङ्, लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, लट्, तेतिज् + आत्मनेपद निपातन द्वारा, तेतिज् + त, एत्व, ज् का कुत्व ग् 'चोः कुः' सूत्र से और 'खरि च' सूत्र से चर्त्व द्वारा ग् का क्—तेतिक्ते। (यङ् को ङित् मानकर ही आत्मनेपद संभव था तब प्रत्ययलक्षण से ही आत्मनेपद करने का क्या औचित्य? यह आत्मनेपद निपातन ज्ञापनार्थ किया गया है—इससे भिन्न में

१. तिजेर्यङ्लुगन्तस्यात्मनेपदमपि निपात्यम्। 'न च यङो ङित्त्वात् प्रत्ययलक्षणेनात्मनेपदं सिद्धमेव? ज्ञापनार्थं तु आत्मनेपदनिपातनम्—अन्यत्र यङ्लुगन्तादात्मनेपदं न भवति।'—इति काशिकाकारः। "यद्यपि 'अनुदात्तङित' इत्यात्मनेपदं न प्रत्ययनिमित्तम्, तथापि 'तोतूयते' इत्यादौ यङन्तादात्मनेपदम्, तत्प्रत्ययस्य ङित्वादिति प्रत्ययलक्षणं भवत्येव। एवञ्चादादिषु "चर्करीतं परस्मैपदम्' इति परस्मैपदग्रहणमनुवादः। कर्तर्येव चेदमात्मनेपदं निपात्यते, इति भावकर्मणोर्यङन्तादात्मनेपदं भवत्येवेति हरिदत्तः।

इयर्तेर्लटि हलादि: शेषापवादो रेफस्य लत्वमित्वाभावश्च निपात्यते[1]। अलर्षि युध्म खजकृत पुरन्दरम् (ऋ.८।१।७) सिपा निर्देशो न तन्त्रम् ।'अर्लर्ति दक्ष उत।' (ऋ. ८।४८।८)

फणतेराङ्पूर्वस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते। 'अन्वापनीफणत्।' (ऋ. ४।४०।१०)

स्यन्दे: संपूर्वस्य[2] यङ्लुकि शतरि अभ्यासस्य निक्। धातुसकारस्य षत्वम्।

यङ्लुङन्त से आत्मनेपद नहीं होता है। अत: यङ्लुगन्त के सभी रूप केवल परस्मैपद में ही होते हैं ऐसा ध्यान रखना चाहिए।

(६) **'अलर्षि युध्म खजकृत् पुरन्दरम्।'** 'ऋ गतौ' धातु से लट् = सिप् शप् का श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व—ऋ ऋ + सि, 'उरत्' सूत्र से अभ्यास ऋ का अ, रपर, बाद वाले ऋ का गुण, रपर अर् अर् सि, 'हलादि: शेष:' से प्राप्त र् लोप का अभाव और र् का ल् निपातित होता है। इसके अतिरिक्त 'अर्तिपिपर्त्योश्च' (७।४।७७) सूत्र से अभ्यास का जो इत्व प्राप्त होता है उसका भी अभाव निपातन द्वारा ही किया जाता है—अल् अर् + सि, 'आदेशप्रत्यययो:' से स् का ष्—अलर्षि। लोक में 'इयर्षि' रूप होता है।

सिप् प्रत्यय के अतिरिक्त रूप में भी यह निपातन माना गया है—अलर्ति दक्ष:। काशिकाकार ने भी यह माना है। क्योंकि सिप् वाला रूप ही अनिवार्य नहीं है।

(७) **आपनीफणत्।** आङ् उपसर्गपूर्वक 'फण गतौ' इस धातु के यङ्लुगन्त का शतृप्रत्यय में रूप है—आ फण् + यङ्, यङ्लुक्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, हलादिशेष, अभ्यास फ का चर्त्व से प, प फण् +शतृ = अत्, इसमें अभ्यास को नीक् = नी का आगम निपातित होता है—आपनीफणत्। अनु उपसर्ग भी जोड़ने पर यण्—अन्वापनीफणत्। लोक में नीक् आगम नहीं होता है।

(८) **संसनिष्यदत्।** सम् + 'स्यन्द् + यङ्, यङ्लुक् + शतृ 'अनिदिताम्' सूत्र से न का लोप द्वित्वादि के बाद सं स स्यद् + अत्, अभ्यास को निक् का

---

१. *'अलर्षि' इत्यत्र सिपा निर्देशोऽतन्त्रम्, तिप्यपि दृश्यते—'अलर्ति वक्ष:।'' (ऋ. ८।४८।८) इति काशिका।*

२. *न चास्य सम्पूर्वता तन्त्रम्, अन्यत्रापि हि दृश्यते—'आसनिष्यदत्' इति काशिका।*

करोतेर्यङ्लुगन्तस्याभ्यासस्य चुत्वाभाव:।

क्रन्देर्लुङि च्लेरङ् द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च। 'कनिक्रदज्जनुषम्।' (ऋ. २।४।४) अक्रन्दीदित्यर्थ:।

बिभर्तेरभ्यासस्य[1] जश्त्वाभाव:।' वि यो भरिभ्रदोषधीषु।' (ऋ. २।४।४)

आगम—सं स निस्यद् + अत्, धातु के स् का षत्व भी निपातित होता है क्योंकि षत्व किसी से प्राप्त नहीं है—संसनिष्यदत्। लोक में संसस्यदत् रूप होना चाहिये।

(९) **करिक्रत्।** 'कृ + यङ्, यङ्लुक् + शतृ, धातु का द्वित्व, अभ्यास के ऋ का अत्व 'उरत्' सूत्र से, रपर, हलादिशेष क कृ + अत् अभ्यास का चुत्वाभाव निपातित होता है। ऋ का यण् क + क्रत् इसके अतिरिक्त अभ्यास को रिक् आगम भी निपातित होता है क्योंकि यणादेश कर देने पर ऋकारान्त न रहने से 'ऋतश्च' (७।४।९२) सूत्र से रिग् आगम प्राप्त नहीं हो सकता अत: उसका भी निपातन करना चाहिये। वास्तव में 'रुग्रिकौ च लुकि' (७।४।९१) वचन से रिक् आगम सिद्ध है। अत: केवल चुत्व का अभाव ही निपातित करना उचित है। इसीलिये दीक्षित ने रिगागम निपातित नहीं किया, काशिकाकार ने किया है। न्यासकार ने इसका समर्थन किया है। किन्तु पदमञ्जरीकार ने काशिकामत का विरोध किया है।

(१०) **कनिक्रदत्**—क्रदि की इ की इत्संज्ञा लोप क्रद् 'इदितो नुम् धातो:' (७।१।५८) सूत्र से नुम् क्रन्द् + लुङ् = तिप्, च्लि, च्लि का अङ् आदेश—क्रन्द् + अ + ति, (१) धातु का द्वित्व, हलादिशेष क क्रन्द् + अ + ति, (२) अभ्यास का चुत्वाभाव अर्थात् क् का च् नहीं होता है, (३) अभ्यास को निक् = नि का आगम, (४) अट् आगम का अभाव—क नि क्रद् + अ + ति—ये उक्त चार कार्य निपातन से होते हैं, नुम् = न् का लोप भी निपातन से करना चाहिये—कनिक्रद् + अ + ति, 'इतश्च' सूत्र से इ का लोप—कनिक्रदत् जनुषम्। लोक में तो अट् अक्रन्द् + ति, च्लि का सिच्, ति के इ का लोप, वलादिलक्षण इट् ''अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।१।९६) सूत्र से ईट् अ क्रन्द् इ + स् + ई त्, 'इट ईटि' (८।२।२८) से सिच् लोप, सवर्णदीर्घ करने पर—अक्रन्दीत् रूप बनता है।

(११) **भरिभ्रत्**—'भृञ् = भृ + यङ् और उसका लुक्, शतृ, प्रत्ययलक्षण से द्वित्व, अभ्यास ऋ का गुण अ, रपर। हलादिशेष भ भृ + शतृ = अत्,

---

१. *बिभर्तेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि 'भृञामित्' इति इत्वाभावो जश्त्वाऽभावोऽभ्यासस्य रिगागमो निपात्यते।*

ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य[1] शतरि अभ्यासस्य विगागमो धातोर्ऋकारलोपश्च। 'दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य।' (ऋ. ४।१३।४)

द्युतेरभ्यास्य संप्रसारणाऽभावोऽत्वं विगागमश्च। 'दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः।' (ऋ. ६।१६।४५)

अभ्यासकार्य 'अभ्यासे चर्च' (८।४।५७) से प्राप्त जश्त्व का अभाव निपातन से, रिक् का आगम—भरि भृ + अत्, ऋ का यण् र्—भरिभ्रत्। "भरिभ्रदोषधीषु।" लोके में अभ्यास का जश्त्व होता है, और रुक्, रिंक्, रीक् ये तीन आगम हो सकते हैं, बर्भ्रत्, बरिभ्रत्, बरीभ्रत् रूप सम्भव हैं।

(१२) **दविध्वतः**—'ध्वृ + यङ् और उसका लुक्, ध्वृ +शतृ प्रत्ययलक्षण से द्वित्व ध्वृ ध्वृ + अत्, 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) सूत्र से अभ्यास के ऋ का गुण अ, रपर, हलादिशेष, ध ध्वृ + अत्, अभ्यास का जश्त्व ध् का द्, निपातन से अभ्यास को विक् = वि आगम, दविध्वृ + अत्, निपातन से ही ध्वृ धातु के ऋ का लोप—दविध्व् + अत्, जस् = अस् प्रत्यय करने पर 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) सूत्र से प्राप्त नुम् का निषेध 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) सूत्र से हो जाता है—दविध्वतस्, स् का रुत्व कर देने पर—दविध्वतः रूप बनता है। 'दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य।' लोक में विक् आगम और ऋ का लोप नहीं होता है अतः ऋ का यण् र् करने पर द ध्व्रतः, रुक्, रिक् तथा रीक्आगम करने पर क्रमशः—दर्ध्व्रतः, दरीध्व्रतः, दरिध्व्रतः रूप हो सकते हैं।

(१३) **दविद्युतत्।** द्युत् धातु से यङ् और उस का लुक्, शतृ = अत् प्रत्यय, प्रत्ययलक्षण से धातु का द्वित्व—द्युत् द्युत् + अत्, 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्' (७।४।६७) सूत्र से अभ्यास के य् का सम्प्रसारण भी प्राप्त होता है। किन्तु निपातन से उसका अभाव होता है, हलादिशेष कर देने पर दुद्युत् + अत्, निपातन से अभ्यास के उ का अ तथा विक् = वि का आगम—दविद्युत् + अत् = दविद्युतत् 'दविद्युतद्दीद्यच्छोशुचानः।' लोक में अभ्यास य् का सम्प्रसारण इ, अ का पूर्वरूप—दिद्युत् + अत् = दिद्युतत् रूप होना चाहिये।

---

१. जसि रूपमेतत्। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुम्प्रतिषेध इति हरदत्तः।

तरतः शतरि श्लौ[1] अभ्यासस्य रिगागमः। 'सुहोर्जा तरित्रतः।' (ऋ. ४।४०।३)

सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचने रीगागमोऽभ्यासस्य।

वृजेः शतरि श्लावभ्यासस्य रीक्।

मृजेर्लिटि णल् अभ्यासस्य रुक् धातोश्च[2] युक्।

---

(१४) **तरित्रतः**—तॄ + शतृ = अत्, शप् का व्यत्यय से श्लु, 'श्लौ' सूत्र से धातु का द्वित्व—तॄ तॄ + अत्, अभ्यास के ऋ का 'उरत्' (७।४।६६) सूत्र से अत्, रपर, तर् तॄ + अत् हलादिशेष, अभ्यास को रिक्= टि का आगम—तरितॄ + अत्, ॠ का यण् र्—तरित्रत् + जस् = अस्, 'उगिदचां सर्वनाम स्थानेऽधातोः' (७।१।७०) सें नुम् प्राप्त है किन्तु 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) से निषेध हो जाता है, स् का रुत्व और विगर्स—तरित्रतः। 'सहोर्जा तरित्रतः।

(१५) **सरीसृपतम्**—'सृप्लृ = सृप् + शतृ = अत्, शप् का व्यत्यय से श्लु, 'श्लौ' सूत्र से धातु का द्वित्व, सृप् सृप् + अत्, अभ्यास के ऋ का अ, रपर, हलादिशेष—स सृप् + अत् = स सृपत् अभ्यास को रीक् = री का आगम + अम् द्वितीया एकवचन में सरीसृपतम्। 'रीगृदुपधस्य च' (७।४।९०) सूत्र से यङ् और यङ्लुक् में ही रीक् आगम होता है। अतः श्लु में निपातन से ही रीक् आगम किया जाता है। नुगागम का निषेध हो जाता है। लोक में तो शप् ही होने से सर्पन्तम् रूप होता है। काशिका तथा सिद्धान्तकौमुदी में 'सरीसृपतम्' उदाहरण का प्रयोग नहीं दिया गया है। अतः वह अन्वेषणीय है।

(१६) **वरीव्रजत्**—'वृजी = वृज् इस रुधादिगणीय धातु से शतृ प्रत्यय, व्यत्यय से श्नम् के स्थान पर शप् और उसका श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व—वृज् वृज् + अत्, अभ्यास का अत्त्व, रपर, हलादिशेष—ववृज् + निपातन से अभ्यास को रीक् का आगम—वरी वृज् + अत् = वरीवृजत्। इसका भी प्रयोगस्थल नहीं दिया गया है। लोक में नुम् होने से 'वृञ्जत्' होता है।

(१७) **मर्मज्य**—'मृजूष् = मृज् + लिट् = तिप् = णल् = अ, द्वित्व, अभ्यास का गुण, रपर—मर्ज मृज् + अ, हलादिशेष। निपातन से अभ्यास को रुक् = र् का आगम और धातु को युक् = य् का आगम करने पर—मर्मृज् य् अ = मर्मृज्य। इसका भी प्रयोग स्थल नहीं दिया गया है। लोक में वृद्धि होने से 'ममार्ज' रूप होता है।

---

१. षष्ठ्येकवचनस्य रूपमेतत्।

२. अभ्यासस्य रुगागमो धातोश्च युगागमः। ततो 'मृजेर्वृद्धिः' इति न भवति, अलघूपधत्वात्। लघूपधगुणे प्राप्ते हि वृद्धिरारभ्यते इति काशिका।

गमेराङ्पूर्वस्य लटि श्लावभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च। 'वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम्।' (ऋ. ६।७५।३)

(२११) ३५१७ **ससूवेति निगमे**'। (७-४-७४) **सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुगागमोऽभ्यासस्य चात्वं निपात्यते। 'गृष्टिः ससूव स्थविरम्।'** (ऋ. ४।१८।१०) **सुषुवे इति भाषायाम्।**

---

(१८) **आगनीगन्ति**—आङ् पूर्वक 'गम्लृ = गम् + लट् = तिप्, शप् का 'कुहोश्चुः' व्यत्यय से श्लु, 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व, हलादिशेष—आ ग गम् + ति, 'कुहोश्चुः' (७।४।६२) सूत्र से प्राप्त चुत्व ग् के ज् का अभाव तथा अभ्यास को नीक् = नी का आगम ये दोनों निपातन से होते हैं—आ ग नी गम् + ति 'नश्चापदान्तस्य झलि' म् का अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८।४।५८) सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण न् आदेश करने पर—आगनीगन्ति रूप होता है।

ध्यान रखना चाहिये कि 'मोऽनुस्वारः' (३।४।२३) यह सूत्र पदान्त मकार का ही अनुस्वार आदेश करता है अतः यहाँ पर 'नश्चापदान्तस्य झलि' (३।४।२४) इसी सूत्र से म् का अनुस्वार करना शुद्ध है क्योंकि यही सूत्र अपदान्त म् तथा न् का अनुस्वार करता है। इस उदाहरण का प्रयोग स्थल है—'वक्ष्यन्ती वेदागनीगन्ति कर्णम्।'

इस सूत्र से १८ शब्द रूपों के बाद **'इति च'** यह उल्लेख करना ऐसा सूचित करता है कि इसी प्रकार के अन्य अनेक वैदिक शब्द रूप भी संभव है उनकी भी यथासंभव निपातन आदि से सिद्धि कर लेनी चाहिये। इसी लिये प्रस्तुत सूत्र पर शब्दन्दुशेखर में नागेश ने लिखा है—"इति शब्द एवम्प्रकाराणामन्येषामपि सङ्ग्रहार्थः।"॥२१०॥

निगम = वेद में 'ससूव' यह रूप निपातित होता है।

उदा० "गृष्टिः ससूव स्थविरम्।"

ससूव-'षू' = सू धातु से लिट्[1] परस्मैपद तिप् = णल् = अ में[1] वुक् का आगम तथा अभ्यास के उकार का अत्त्व[1] ये तीन कार्य निपातित होते हैं।

---

१. दाधर्तिदर्धर्ति आगनीगन्तीति च' इति सूत्रे चकारश्छन्दसीत्यनुकर्षणार्थः। इतिकरण-मेवाप्रकाराणामन्येषामप्युसंग्रहार्थमिति काशिका। अत्र हरदत्त—'दाधर्त्यादिष्वेवैतत् ('ससूव निगमे' इति सूत्रम्) पठितव्यम्।" नागेशोऽपि हरदत्तमनुसरति—'ससूवे' त्यादि 'दाधर्त्यादिष्वेव पठितुं युक्तमिति।" शेखरः

(२१२) ३५१८ **बहुलं छन्दसि**'। (७-४-७८) अभ्यासस्य इकारः स्याच्छन्दसि। 'पूर्णां विवष्टि।' (ऋ. ७।१६।११) वशेरेतद्रूपम्।

॥इति सप्तमोऽध्यायः॥

—o—

'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इस दिवादिगणीय धातु से आत्मनेपद प्राप्त है उसके स्थान पर परस्मैपद का निपातन है। 'धात्वादेः षः सः' (६।१।६२) सूत्र से ष का स—सू + लिट् = तिप् = णल्, वुक् = व् आगम, निपातन से द्वित्व—सूव् सूव् अ, हलादिशेष, ह्रस्व के बाद अभ्यास (सु) के उ का अत्व भी निपातन से होता है। लोक में 'सुषुवे' होता है।

विमर्श—प्रायः सभी प्रमुख व्याख्याकारों ने इस सूत्र को अलग बनाने का खण्डन किया है और 'दाधर्ति' (७।४।६५) में ही 'ससूव' के भी उल्लेख का प्रतिपादन किया है। किन्तु पाणिनि ने 'भवतेः' (७।४।७३) सूत्र से अभ्यास के उकार का अत्व करने के प्रसङ्ग को ध्यान में रखकर उसके बाद इस निपातन का विधान किया है। अतः इसे पृथक् बनाने में केवल सन्दर्भ का ही औचित्य प्रतीत होता है॥२११॥

वेदविषय में 'श्लु' परे अभ्यास का इकार आदेश बहुल रूप से होता है।

उदा० 'पूर्णां **विवष्टि**।' 'वश कान्तौ' इस अदादिगणीय धातु का यह रूप है। वश् + लट = तिप्, शप् का लुक् न होकर व्यत्यय से 'श्लु' होता है। अतः 'श्लौ' सूत्र से द्वित्व वश्—वश् + ति, हलादिशेष, प्रस्तुत सूत्र से अभ्यास के अ का इकार आदेश—विवश् + ति, 'व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८।२।३६) सूत्र से श् का ष् 'ष्टुना ष्टुः' सूत्र से त् का ष्टुत्व = ट करने पर 'विवष्टि' यह रूप होता है। लोक में अदादिगणीय होने से शप् का लुक् कर देने पर 'वष्टि' यह रूप होता है।

यह इकार आदेश बहुल रूप से होता है अतः कहीं-कहीं नहीं भी होता है—ददाति आदि रूप भी होते हैं॥२१२॥

।। इस प्रकार पाणिनि की अष्टाध्यायी के सप्तम अध्याय के वैदिकं सूत्रों की 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या सम्पूर्ण हुई।।

—o—

---

१. अत्र सूत्रे 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) इत्यतः 'अभ्यासस्य' इति, 'भृञामित्' (७।४।७६) इत्यतः 'इत्' इति, 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ (७।४।७५) इत्यतः 'श्लौ' इति चानुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकारः। बहुलग्रहणात् क्वचित् नापि भवति इत्वम्, यथा—'जजनमिन्द्रम्। (मै. १।१।१)

अष्टमोऽध्यायः

(२१३) ३५९९ प्रसमुपोदः पादपूरणे[१]। (८-१-६) एषां द्वे स्तःपादपूरणे। 'प्रप्रायमग्निः।' (ऋ. ७।८।४) 'संसमिद्युवसे।' (ऋ. १०।१९१।१) 'उपोप मे परामृश।' (ऋ. १।१२६।७) 'किं नोदुदु हर्षसे।' (ऋ. ४।२१।९)

(२१४) ३६०० छन्दसीरः[२]। (८-२-१५) इवर्णान्ताद्रेफान्ताच्च

यदि मन्त्र के किसी पाद की पूर्ति करने के लिये द्वित्व की आवश्यकता हो तो 'प्र, सम्, उप, उत्' इन उपसर्गों का द्वित्व कर लिया जाता है।

क्रमशः उदा० 'प्र प्रायमग्निः'। इसमें 'प्र' का द्वित्व किया गया है। 'सं संमिद् युवसे' इसमें 'सम्' का द्वित्व किया गया है। 'उपोप मे परामृश'—इसमें 'उप' का द्वित्व किया गया है। 'किं नोदुदु हर्षसे'—इसमें 'उत्' (उद्) का द्वित्व हुआ है साथ में 'उ' भी प्रयुक्त है।

ध्यान रहे कि इन उपसर्गों का द्वित्व केवल वेद के लिये ही किया गया है। लोक में इस प्रकार का अलग से प्रयोग नहीं किया जाता है क्योंकि अकेले इन उपसर्गों का कोई अर्थ नहीं है।

इस सूत्र में 'प्र च सं च उप च उत् च इति एतेषां समाहारः'— इस विग्रह में समाहारद्वन्द्व है चूँकि समासान्तविधि अनित्य है अतएव 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' (५।४।१०६) सूत्र से टच् = अ यह समासान्त प्रत्यय नहीं होता है। इसीलिये नपुंसकलिङ्ग भी नहीं हुआ है॥२१३॥

वेद में इवर्णान्त और रेफान्त शब्द से परे मतुप् के म् का व् आदेश हो जाता है। इः च र् च अनयोः समाहारः इति इर् तस्मात् इरः, इसमें भी समाहारद्वन्द्व है— छन्दसि + इरः = 'छन्दसीरः')

१. प्र, सम्, उप, उद्—इत्येतेषां समाहारद्वन्द्वः। न च समाहारद्वन्द्वे 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्' समाहारे' इति समासान्तः टच् शङ्क्यः, समासान्तविधेरनित्यत्वात्। 'पादश्चेह विशेषानभिधानेऽपि सामर्थ्याद् ऋच एव गृह्यते, न श्लोकस्य। लौकिको हि श्लोकः, लोके चार्थपरत्वादनर्थकस्य प्रयोगो नोपपद्यते।' इति न्यासकारः। ''नात्र द्विवचनस्य किञ्चिद् द्योत्यम्, केवलं पादपूरणमेव कार्यम्, न चैवं विषयस्य भाषायां प्रयोगोऽस्तीति'' हरदत्त।

२. 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इत्यतः 'मतोर्वः' इत्यनुवर्तते। इ च र् च इति समाहारद्वन्द्वः, पञ्चम्येकवचनम्। तदन्ताद् विधिः। इदं सूत्रं बाहुल्येन प्रवर्तते। तेन क्वचित् नापि भवति—श्रीमान्।

परस्य मतोर्मस्य वः स्यात्। हरिवते हर्यश्वाय। (ऋ. ३।५२।७) गीर्वान्।

(२१५) ३६०१ अनो[१] **नुट्**। (८-२-१६) अन्नन्तान्मतोर्नुट् स्यात्। अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः। (ऋ. १०।७१।७)

उदा० 'हरिवते हर्यश्वाय।' 'गीर्वान्।' हरयः सन्ति अस्य तस्मै—इस विग्रह में 'हरि' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) सूत्र से मतुप् प्रत्यय हरि + मत् प्रस्तुत सूत्र इकार से परे मतुप् के म् का व् आदेश कर देता है—हरिवत् + ङे = ए—हरिवते।

गीर्वान्—गिरः सन्ति अस्य सः—इस अर्थ में गिर् शब्द से मतुप् = मत्— गिर् + मत् प्रस्तुत सूत्र से 'म्' का 'व्'—गिर्वत्, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (८।२।७६) सूत्र से उपधा इ का दीर्घ ई आदेश—गीर्वत् + सु, मतुप् उगित् है अतः 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) सूत्र से नुम् = न् का आगम,— गीर्वन्त् सु 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (६।४।१४) सूत्र से उपधा अ का दीर्घ, सु की इत्संज्ञा, 'हल्ङ्याब्भ्यो' (६।१।६८) सूत्र से स् लोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' (८।२।२३) से त् लोप करने पर—'गीर्वान्' बनता है॥२१४॥

वेद में अन्नन्त शब्द से परे मतुप् को नुट् का आगम होता है।

उदा० 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः।' 'अस्थन्वन्तं यदनस्था।'

अक्षि अस्ति अस्य—इस अर्थ में मतुप्—अक्षि + मत्, 'अस्थि-दधि०' (७।१।७५) 'छन्दस्यपि दृश्यते' (७।१।७६) सूत्र से अन्त इ का अनङ् = अन् आदेश अक्षन् + मत्। अब अन्नन्त मानकर प्रस्तुत सूत्र से मतुप् को नुट् = न् आगम—अक्षन् न् मत् 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) सूत्र से म् का व्—अक्षन् न् वत्—इस स्थिति में 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) सूत्र से अनङ् की दृष्टि में नुट् असिद्ध मानकर पहले अक्षन् के न् का लोप 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्र से हो जाता है किन्तु भूतपूर्वगत्या अन्नन्त मान कर नुट् भी हो जाता है—'अक्षन् वत्' 'रषाभ्यां णो नः समानपदे' (८।४।१) सूत्र से णत्व—अक्षण्वत् + जस् = अस्, 'उगिदचाम्' (७।१।७०) सूत्र से नुम् = न् आगम, स् का रुत्व और विसर्ग—अक्षण्वन्तः।

१. अत्र 'छन्दसि' इति 'मतोः' इति चानुवर्तते। तदन्तविधिः।

अस्थन्वन्तं यदनस्था। (ऋ. १।१६४।४)

(२१६) ३६०२ नाद्घस्य[1]। (८-२-१७) नान्तात्परस्य घस्य नुट्।

'सुपथिन्तरः।' (ऋ. ८।२।७)

*** भूरिदाव्नस्तुड्वाच्यः। * भूरिदावत्तरो जनः। (ऋ. ८।५।३९)**

अस्थन्वन्तम्—अस्थि अस्ति अस्य—इस विग्रह में मतुप्, 'छन्दस्यपि' दृश्यते' सूत्र से इ का अनङ् = अन् आदेश अस्थन् + मत्, पूर्ववत् नुट्। नुट् को असिद्ध मानकर प्रातिपदिकान्त न् का लोप, भूतपूर्वगति मानकर अन्नन्त से नुट्, म् का व् पूर्ववत् —अस्थन्वत् + अम्, नुम्—अस्थन्वन्तम्। द्वितीया एकवचन का रूप है।

न् का लोप हो जाने के कारण अन् के न् का श्रवण नहीं होता है। लोक में तो—अक्षिमन्तः, अस्थिमन्तम् आदि रूप ही होते हैं।।२१५।।

वेद में नकारान्त शब्द से परे घसंज्ञक तरप् और तमप् प्रत्ययों को नुट का आगम होता है। 'तरप्तमपौ घः' (१।१।२३) सूत्र तरप् और तमप् इन दो प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा करता है।

उदा०—सुपथिन्तरः। शोभनः पन्थाः—इस अर्थ में सु के साथ पथिन् का कर्मधारय समास करने पर 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' (५।४।७४) सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता है क्योंकि 'न पूजनात्' (५।४।६९) से निषेध होता है। अयम् अनयोः अतिशयेन सुपन्थाः—इस विग्रह में 'द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ' (५।३।५७) सूत्र से तरप्—सुपथिन् + तर, न् का लोप, प्रस्तुत सूत्र से तरप् को नुट् = न् का आगम, न् का अनुस्वार 'नश्चापदान्तस्य झलि' (८।३।२४) सूत्र से और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र (८।४।५८) सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण कर देने पर पुनः 'न्' हो जाता है—सुपथिन्तर + सु, रुत्व, विसर्ग—सुपथिन्तरः। एकपद में सन्धि अनिवार्य होने से न् का अनुस्वार और अनुस्वार का परसवर्ण करना अनिवार्य है। लोक में नुट न् होने से —सुपथितरः होता है।

* भूरिदावन् शब्द से परे घसंज्ञक तरप्, तमप् को तुट् = त् का आगम कहना चाहिये।*

उदा०—'भूरिदावत्तरो जनः।' भूरि ददाति—इस विग्रह में "आतो मनिन् क्वनिब्-वनिपश्च (३।२।७४) सूत्र से वनिप् = वन्—प्रत्यय—भूरिदावन्।

---

१. अत्र 'छन्दसि इति, 'नुट्' इति चानुवर्तते। तदन्तविधिः।

*** ईद्रथिनः[1]। * रथीतरः। (ऋ. १।८४।५) रथीतमं रथीनाम्। (ऋ. १।२।१)**

अयमनयोरतिशयेन भूरिदावा—इस अर्थ में 'द्विवचन' (५।३।५७) सूत्र से तरप्—भूरिदावन् + तर, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) सूत्र से न् लोप, प्रस्तुत सूत्र से तुट् = त् आगम—भूरिदाव + त्तर + सु, रुत्व, विसर्ग—भूरिदावत्तरः। लोक में भूरि ददाति—इति भूरिदः, भूरिदतरः—यह होना चाहिये।

* रथिन् से घसंज्ञक तर, तम परे रहते ईकार अन्तादेश हो जाता है। *

उदा० रथीतरः। रथीतमं रथीनाम्। रथः अस्ति अस्य—इस विग्रह में 'अत इनि-ठनौ' (५।२।११५) सूत्र से रथ शब्द से इनि = इन् प्रत्यय, भसंज्ञा, अलोप करने पर—रथिन्। अयम् अनयोः अतिशयने रथी—इस विग्रह में 'द्विवचन' (५।३।५७) सूत्र से तरप् प्रत्यय—रथिन् तर, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से न् का लोप—रथितर। प्रस्तुत (८।२।७) सूत्र से इ का ई आदेश।

विमर्श—कुछ व्याख्याकार 'ईकार अन्तादेश' का तात्पर्य रथिन् के न् का ई आदेश मानकर पुनः सवर्णदीर्घ मानते हैं। उनके मत में यद्यपि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (८।२।७) की अपेक्षा प्रस्तुत सूत्र वार्तिक (८।२।१७) परवर्ती है अतः लोप न होकर ई होना चाहिये तथापि 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के अनुसार लोप की दृष्टि में ईकार असिद्ध हो जाता है तब सवर्णदीर्घ किसका होगा क्योंकि इस दशा में 'न्' ही रहता है। अतः न् का लोप करके इ का ही 'ई' आदेश मानना चाहिये।

अयम् एषाम् अतिशयेन रथी—इस विग्रह में 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (५।३।५५) सूत्र से तमप्—रथिन् + तम, न का लोप, इ का ई—रथीतम + अम्, पूर्वरूप करने पर रथीतमम् यह होता है। यहाँ पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये क्योंकि यह वेद की एक विशेष प्रयोगशैली है। कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने यहाँ पर 'ईत्' या 'ई' का आगम होना लिखा है जो महाभाष्य, काशिका तथा सुबोधिनी व्याख्या आदि प्रामाणिक ग्रन्थों से विरुद्ध है।

'ईद्रथिनः' इस वार्तिक की व्याख्या में प्रदीपकार कैयट ने लिखा है

---

१. रथः अस्ति अस्येति मत्वर्थे इनिः—रथिन् इति। प्रकर्षविवक्षायां तरप्, नकारलोपे कृते सति, वार्तिकेन इकारस्य ईकारादेशः। यदि तु नकारलोपापवादो नकारस्यैव स्थाने ईकारादेशो विधीयेत, तदा तस्यादेशस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घरूपैकादेशो न स्यादिति हरदत्तः।

अत्र काशिकायां पक्षान्तरमप्युपस्थापितम्—"अथवा रथशब्दादेव वा मत्वर्थीयोऽयमीकारः—'छन्दसीवनिपौ' (वा.)।' एवञ्च रथीतरः, रथीतमः।

(२१७) ३६०३ नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानि छन्दसि[1] (८-२-६१) सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च निष्ठायां नत्वाभावो निपात्यते। 'नसत्तमञ्जसा।' 'निषत्तमस्य चरतः।' (ऋ. १।१४६।१) असन्नं

''नुडपवाद ईकारो विधीयते स च नकारलोपे कृते इकारस्य विधेयः।' इस पर उद्द्योतकार नागेश ने लिखा है—''रथशब्दान्मत्वर्थीयेनन्तात्तरपि नुटि (८।२।१७) प्राप्ते तदपवाद ईकार इत्यर्थः।''

''रथिन ईकारान्तादेशो घपरतः'' ऐसा काशिका में लिखा है उस पर ''रथशब्दान्मत्वर्थीय इनिः, तदन्तात्तरप्, नकारलोपे कृते इकारस्य ईकारः। यदि तु नकारलोपापवादो नकारस्य स्थाने विधीयते तदा तस्यासिद्धत्वादेकादेशो न स्यात्॥'' पदमञ्जरीकार ने यह व्याख्या की है।

प्रस्तुत वचन पर सुबोधिनी व्याख्याकार ने ''रथिन ईकारोऽन्तादेशो घे परे।'' ऐसा लिखा है। अतः 'ईद् रथिनः' में पञ्चम्यन्त पाठ न मान कर षष्ठ्यन्त पाठ ही मानना उचित प्रतीत होता है॥२१६॥

वेद में 'नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त, सूर्त और गूर्त'—ये छः शब्दरूप निपातन से सिद्ध समझने चाहिये। (ये सभी शब्द क्त प्रत्यय के हैं अतः उनमें किये जाने वाले अप्राप्त कार्यों का ही निपातन होता है।) उदा०—''नसत्तमञ्जसा।''

(१) **नसत्तम्**—'षद्लृ' धातु का 'धात्वादेः षः सः' (६।१।६५) सूत्र से ष का स, सद् धातु नञ्पूर्वक मानकर क्त = त प्रत्यय, नञ्लोप का अभाव, 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८।२।४२) सूत्र से द् और त इन दोनों के स्थान पर दो नकार आदेश प्राप्त होते हैं किन्तु प्रस्तुत सूत्र से इन आदेशों का अभाव = निषेध निपातित हो जाता है। 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र से चर्त्व से द् का त् करने पर—नसत्त। नपुंसकलिंग प्रथमा एकवचन में सु का अम् और पूर्वरूप करने पर 'नसत्तम्' रूप बनता है। किन्तु लोक में नञ् का लोप होता है और द् तथा त् दोनों के स्थान पर दो नकार आदेश होते हैं—असन्नम्।

(२) 'निषत्तमस्य चरतः'। **निषत्तम्**—षद्लृ = सद् को निपूर्वक मानकर क्त

१. नसत्तेत्यादीनामनुकरणपदानां द्वन्द्वः।

निषण्णमिति प्राप्ते। उन्देर्नञ्पूर्वस्यानुत्तम्[1]। प्रतूर्तमिति त्वरतेः, तुर्वीत्यस्य

प्रत्यय—निसद् + त, 'रदाभ्याम्' सूत्र से द् और त् के स्थान पर दो न् आदेश प्राप्त होते हैं। किन्तु प्रस्तुत सूत्र से उनका अभाव निपातित होता है। ''सदिरप्रतेः'' (८।२।६६) सूत्र से स् का मूर्धन्यादेश, 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र से चर्त्व से द् का त्। नपुंसकलिङ्ग प्रथमैकवचन में—निषत्तम्। लोक में नत्व आदेश होता है और इसी का णत्व भी होता है—निषण्णम् रूप होता है।

(३) **अनुत्तम्**। 'उन्दी क्लेदने' का नञ्पूर्वक का रूप है। न उन्द् + क्त, गतिसमास के बाद 'नलोपो नञः' (६।३।७३) सूत्र से न का लोप और 'तस्मानुडचि' (६।३।७४) से नुट् का आगम करने पर अनुन्द् + त 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (६।४।२४) सूत्र से धातु के न् का लोप, 'रदाभ्याम्' (८।२।४२) सूत्र से प्राप्त नत्व आदेश का अभाव निपातित होता है। 'चर्त्व से द् का त्। नपुंसकलिङ्ग प्रथमा एकवचन का रूप है। लोक में 'रदाभ्याम्' सूत्र से त् और द् दोनों के स्थान पर दो न् आदेश होते हैं। अतः 'अनुन्नम्' ऐसा रूप होता है।

(४) **प्रतूर्तम्**। यह रूप दो धातुओं से निष्पन्न हो सकता है—(१) 'ञित्वरा संभ्रमे' (२) 'तुर्वी हिंसायाम्'। ये दोनों भ्वादिगणीय हैं। प्रपूर्वक त्वरा से क्त = त प्रत्यय 'ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च' (६।४।२) इस सूत्र से धातु के वकार और उपधा के अकार इन दोनों के स्थान पर ऊठ् आदेश—प्र त् ऊ 'अचो रहाभ्यां द्वे' (८।४।४६) सूत्र से रेफ से परवर्ती त् का वैकल्पिक द्वित्व। यहाँ भी 'रदाभ्यां' सूत्र से प्राप्त न आदेश का अभाव निपातित होता है। नपुंसकलिंग प्रथमा एकवचन में रूप है—प्रतूर्त्तम्। दूसरा रूप प्र पूर्वक तुर्वी + क्त धातु के ई की इत्संज्ञा लोप। यहाँ प्र तुर् + त, 'राल्लोपः' (६।४।२१) सूत्र से रेफ से परे व का लोप कर देने पर 'हलि च' (८।३।७७) सूत्र से उपधा का दीर्घ कर देने पर—प्रतूर्त। इसमें भी त् का द्वित्व होता है। इसमें नकार आदेश का अभाव निपातित होता है। नपुंसकलिंग में प्रथमा, एकवचन में—प्रतूर्त्तम् होता है। लोक में निष्ठानत्व आदेश करने के बाद नकार को णकार आदेश होता है—प्रतूर्णम् रूप होता है।

१. भाषायान्तु—अनुन्नमिति। एतन्निपातनारम्भसामर्थ्याद् भाषायां 'नुदविन्दोन्द्र०' इति सूत्रेण निष्ठातकारस्य विकल्पेन नत्वं नेति हरदत्तः।

इत्यस्य। गूर्तमिति गूरी इत्यस्य।

(२१८) ३६०४ **अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि**[1] (८-२-७०) रुर्वा रेफो वा। 'अम्न एव।(ऋ. १।६।१०) अम्नरेव।' ऊधएव। (कठ. ७।५।२९) ऊधरेव। (ऋ. १०।१००।११) अव एव। (अथर्व.

(५) **सूर्त्तम्।** 'सृ गतौ' से क्त प्रत्यय सृ + त, इसमें ऋ का उत्व आदेश निपातित होता है, रपर—सुर् + त् 'हलि च' (८।३।७७) सूत्र से उपधादीर्घ, 'अचो रहाभ्याम् (८।४।४६) से वैकल्पिक द्वित्व, 'रदाभ्याम्' से प्राप्त नकार आदेश का अभाव—सूर्त्त। नपुंसकलिंग प्रथमैकवचन में—सूर्त्तम्। लोक में उत्व आदेश नहीं होता है—सृतम्।

(६) **गूर्तम्।** 'गुरी उद्यमने' धातु से क्त प्रत्यय, धातु में अनुबन्ध ई की इत्संज्ञा लोप गुर् + त, 'हलि च' (८।३।७७) सूत्र से उपधा का दीर्घ 'अचो रहाभ्याम्' (८।४।४६) से वैकल्पक द्वित्व तकार का। 'रदाभ्याम्' से प्राप्त नकार आदेश का अभाव निपातित होता है। प्रथमैकवचन में—गूर्त्तम्। लोक में नकार आदेश के बाद उसका णकार आदेश कर देने पर—गूर्णम् रूप होता है॥२१७॥

वेदविषय में अम्नस्, ऊधस्, अवस्—इन तीन शब्दों का दोनों प्रकार का आदेश होता है अर्थात् इन तीनों शब्दों के सकार का 'रु' और 'र्' ये दोनों आदेश होते हैं। यहाँ 'ससजुषो: रु:' (८।२।६६) सूत्र से नित्य रुत्व प्राप्त है वहाँ इस सूत्र से वैकल्पिक करने पर र् आदेश भी कर देता है।

उदा०—(१) अम्न एव, अम्नरेव। अम्नस् + सु, सु का लोप करने के बाद 'अम्नस् एव' के साथ सन्धि अम्नस् + एव। जब स् का रु आदेश होता है। तब 'भोभगो अघो-अपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) सूत्र से रु का य् आदेश और 'लोप: शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र से उस यकार का वैकल्पिक लोप होता है—अम्न एव। य् का लोप न होने पर अम्नय् एव। र् करने पर—अम्नर् एव = अम्नरेव। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं। लोक में रुत्व पक्षवाले दो रूप ही होते हैं।

(२) ऊध एव, ऊधरेव। उधस् + सु, सुलोप, एव के साथ सन्धि—ऊधस् + एव स् का विकल्प से रुत्व उसका यत्व और वैकल्पिक य् लोप—ऊध एव, लोपाभाव में—ऊधय् एव। रुत्व न करके र् करने पर—ऊधरेव।

१. 'ससजुषो रु:' (७।२।६६) इत्यनेन नित्ये रुत्वे रोऽपि यथास्यादित्ययमारम्भ:। अत्र सूत्रे 'ससजुषो रु:' इत्यत: 'रु' इति, रोऽसुपि' (८।२।६९) इत्यत: 'र:' इति चानुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकार:। अम्नस् शब्द: ईषदर्थे, अव: = रक्षणम्, ऊध: = गवादीनां स्तनसमूह:।

२०।२५।२) अवरेव।

(२१९) ३६०५ **भुवश्च महाव्याहृते:।** (८-२-७१) भुवइति। भुवरिति।

(२२०) ३६०६ **ओमभ्यादाने**[1] (८-२-८७) ओंशब्दस्य प्लुत: स्यादारम्भे। 'ओ३म् अग्निमीले पुरोहितम्।' (ऋ. १।१।१)

(३) अव एव, अवरेव। अवस् + सु, सु का लोप, अवस् + एव, स् का रुत्व, रु का यत्व और उसका वैकल्पिक लोप—अव एव, लोपाभाव में—अवय् एव। रु न करके र् करने पर—अवर् एव = अवरेव।

स् का रु अथवा र् करने पर उसका विसर्ग नहीं हो सकता क्योंकि 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:' (८।३।१५) यह सूत्र खर् परे और अवसान में ही विसर्ग करता है। यहाँ ए = अच् परे है॥२१८॥

महाव्याहृतियों के अन्तर्गत विद्यमान 'भुवस्' शब्द के स् का रु तथा र् ये दोनों आदेश वेदविषय में होते हैं।

उदा० भुव इति, भुवरिति। भुवस् + सु, सुलोप भुवस् + इति, स् का रुत्व, यत्व और लोप करने पर (क) 'भुव इति।' 'लोप: शाकल्यस्य' विकल्प से य् लोप करता है। अत: लोपाभाव पक्ष में (ख) भुवय् इति। स् का रेफ करने पर—(ग) भुवर् इति—भुवरिति ये तीन रूप होते हैं।

तीन महाव्याहृतियाँ होती हैं—भू:, भुव:, स्व:। 'भुव:' यह शब्द षष्ठ्यन्त प्रतिरूपक अव्यय है। कुछ विद्वान् सात महाव्याहृतियाँ मानते हैं।—भू:, भुव:, स्व:, मह:, जन:, तप:, सत्यम्। इनमें केवल भुवस् के लिये ही रुत्व और र् होता है। शेष में केवल स् का रु ही होता है। 'भुव:' यह अन्तरिक्षवाची है। 'भू:' पृथिवीवाचक और 'स्व:' स्वर्गवाचक है॥२१९॥

अभ्यादान = प्रारम्भ:। प्रारम्भ में प्रयुक्त होने वाले 'ओम्' का प्लुत (त्रैमात्रिक) आदेश होता है। (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—ये अचों के ही होते हैं। अत: 'ओम्' का 'ओ' प्लुत होता है, मकार तो अर्धमात्रिक व्यञ्जन हैं। इसलिये ये दोनों मिलकर ३+१/२ (अध्यर्धचतुर्मात्रिक) मात्राकाल वाला हो जाते हैं।

१. अत्र 'वाक्यस्य टे: प्लुत उदात्त:' (८।२।८२) इत्यत: 'प्लुत: उदात्त:' इत्यनुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकार:। अभ्यादानम् = आरम्भ:। कस्य? स्वाध्यायादीनामिति।

अभ्यादाने किम्–ओमित्येकाक्षरम्।

(२२१) ३६०७ **ये यज्ञकर्मणि**[1]। (८-२-८८) ये३यजामहे। यज्ञेति किम्–ये यजामहे। (तै. १।६।११।१)

(२२२) ३६०८ **प्रणवष्टेः**[2]। (८-२-८९) यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशः स्यात्। 'अपां रेतांसि जिन्वतो३म्।' (ऋ. ८।४४।१६)

टेः किम–हलन्ते अन्त्यस्य माभूत्।

उदा०—'ओ३म् अग्निमीले पुरोहितम्।' यहाँ मन्त्र के आरम्भ में 'ओम्' है अतः प्लुत हो जाता है। क्योंकि यह ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है इसके उच्चारण के आरम्भ में ओम् प्लुत होता है।

अभ्यादान = प्रारम्भ में रहने पर —इसका क्या फल है? 'ओमित्येकाक्षरम्।' यहाँ मन्त्र का आरम्भ न होकर किसी श्लोक या उपनिषद् के वाक्य आदि का प्रारम्भ है। अतः यहाँ प्लुत नहीं होता है॥२१९॥

'यज्ञकर्म में प्रयुक्त 'ये' यह शब्द प्लुत हो जाता है।

उदा०—'ये३ यजामहे।' श्रौत यज्ञकर्म में जिसकी आहुति दी जाती है उसे 'याज्या' कहा जाता है उस के आरम्भ में 'ये३ यजामहे' बोला जाता है उसका प्लुत होता है।

यज्ञकर्म में—इसके ग्रहण का क्या फल है? 'ये यजामहे' इस प्रकार के सामान्य पाठ में प्लुत नहीं होता है॥२२०॥

पूर्वसूत्र से 'यज्ञकर्मणि' इसकी अनुवृत्ति इस सूत्र में होती है। अतः यज्ञकर्म में 'टि' के स्थान पर प्रणव = ओम् ओदश हो जाता है। और वह ओम् प्लुत त्रैमात्रिक भी होता है। क्योंकि 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८२) की भी अनुवृत्ति होती है।

उदा०—'अपां रेतांसि जिन्वतो३म्।' (जिवि प्रीणनार्थक है, इ की इत्संज्ञा होने से 'इदितो नुम् धातोः' (७।१।५८) सूत्र से नुम् का आगम होकर—जिन्व् बनता है।

---

१. 'ये' इत्यस्य यज्ञकर्मणि प्लुतो भवति। कर्मशब्दः क्रियावाची। यज्ञक्रियायामित्यर्थः।

२. 'यज्ञकर्मणि' इति ''वाक्यस्य टेः प्लुतः उदात्तः' इति चानुवर्तते। पदस्येत्यधिकारः। यज्ञक्रियायां टेः प्रणव आदेशो भवति। ''क एष प्रणवो नाम? पादस्य वा अर्धर्चस्य

(२२३) ३६०९ **याज्यान्ताः**[1]। (८-२-९०) ये याज्या

जिन्व् + लट् तिप् शप्—जिन्वति। 'अचोऽन्त्यादि टि' (१।१।६४) सूत्रानुसार अन्त्य अच् इ = टि है। उसके स्थान पर 'ओ३म्' आदेश हो जाने पर 'जिन्वति = जिन्वत् ओ३म् = जिन्वतो३म् बनता है।

'प्रस्तुत सूत्र में 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८२) से 'टे' इसकी अनुवृत्ति होती ही है तब दुबारा 'टेः' ग्रहण का क्या फल है? उत्तर यह है कि हलन्त शब्द में अन्तिम वर्ण के स्थान पर 'ओ३म्' आदेश न होने लग जाय अपितु केवल टि भाग का ही आदेश हो—इसके लिये 'टि' का पुनः ग्रहण किया गया है। भाव यह है कि अनुवृत्त होने वाले 'टेः' का अर्थ है, 'टि' का ओम् हो। किन्तु टि तो अन्त्य अच् और अन्त्य अच् हल् समुदाय दोनों को कहा जाता है। ऐसी स्थिति में 'टेः' में 'अलोऽन्त्यस्य (१।१।५२) सूत्र के अनुसार अन्त्य अल् अर्थात् अन्तिम व्यञ्जन = हल् का भी ओ३म् आदेश होने लग जाता। किन्तु जब दुबारा 'टेः' का ग्रहण किया गया तब टि = अच् हल् समुदाय का ही ओम् होगा, केवल हल् का नहीं। इसके लिये दुबारा 'टेः' का ग्रहण सार्थक है।

प्रणव का क्या स्वरूप है? इस विषय में इस सूत्र पर महाभाष्यकार ने लिखा है? 'प्रणव' इत्युच्यते, क एष प्रणवो नाम? पादस्य वाऽर्धर्चस्य वाऽन्त्यमक्षरमुपसंहत्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोङ्कारम्, त्रिमात्रमोकारं वा विदधाति तं प्रणव इत्याचक्षते।'' (म. भा. ८।२।८९)

इससे यह प्रतीत होता है कि ओम् और ओ दोनों ही प्रणव होते हैं। प्रस्तुत सूत्र की उपयोगिता 'ओ' आदेश मानने में है क्योंकि 'ओम्' यह आदेश तो अनेकाल् है। अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' (१।१।५५) सूत्र से ही सम्पूर्ण 'टि' के स्थान पर हो सकता है। अतः इस पक्ष में 'टेः' ग्रहण की आवश्यकता नहीं रहती है॥२२२॥

याज्या = याज्याकाण्ड में पठित जो मन्त्र, उनका अन्त्य जो टि उसका प्लुत हो जाता है। याज्या = श्रौतकर्म-सम्बन्धी सभी मन्त्रवाक्यों की टि का प्लुत प्राप्त

वाऽन्त्यमक्षरमुपसंगृह्य तदाद्यक्षरशेषस्य स्थाने त्रिमात्रमोकारम्, ओंकार वा विदधाति, तं प्रणवमित्याचक्षते'' इति महाभाष्यम्।

१. याज्या नाम ये याज्याकाण्डे पठ्यन्ते मन्त्राः, तेषामन्त्यो यः टिः सः प्लवते। ''याज्याकाण्डम् = याज्यानुवाक्यकाण्डमिति समाख्याने प्रकरणमिति हरदत्तः।

मन्त्रास्तेषामन्त्यस्य टेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। 'जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्।' (ऋ. १०।८।६)

अन्तः किम्–याज्यानामृचां वाक्यसमुदायरूपाणां प्रतिवाक्यं टेः स्यात्। सर्वान्तस्य चेष्यते।

(२२४) ३६१० ब्रूहि-प्रेष्य-श्रौषड्वौषडावहानामादेः[1]। (८-२-९१) एषामादेः प्लुतो यज्ञकर्मणि। 'अग्नयेऽनुब्रू३हि।' (शत. २।५।३।१२) 'अग्नये गोमयानि प्रे३ष्य।' 'अस्तु श्रौ३षट्। (तै. १।६।११।१) 'सोमस्याग्ने व्रीही वौ३षट्।' (ऐ. ब्रा. ४।५।४।६)

होता है उसमें यह सूत्र केवल अन्त्य वाक्य की ही टि के प्लुत का विधान कर देता है, अतः अन्य का टि प्लुत नहीं होता है।

उदा०—'जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्।' यहाँ 'हव्यवाहम्' में ह का अ और म् दोनों का समुदाय टि है किन्तु स्वर ही प्लुत होते हैं अतः 'अ' ही प्लुत = त्रैमात्रिक हो जाता है—हव्यवाहा३म्।

याज्या के अन्त का ? इसके ग्रहण का क्या फल है? याज्या नामक ऋचाओं का जो वाक्यसमूह है उसके प्रत्येक वाक्य की टि का प्लुत होने लगता। जबकि इष्ट है केवल अन्तिम वाक्य की टि का प्लुत करना। वह तभी होगा जब सूत्र में 'अन्त' का ग्रहण किया जाय। इसलिये सूत्र में 'याज्यान्तः' इसका ग्रहण करना आवश्यक है॥२२३॥

यज्ञसम्बन्धी कर्म में—ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट् तथा आवह—इन पाँच शब्दों का आदि स्वर प्लुत होता है अर्थात् अन्त में रहने पर भी इनकी टि का प्लुत न होकर इन शब्दों के आदि का ही स्वर प्लुत होता है। क्रमशः उदा०—

(१) 'अग्नयेऽनुब्रू३हि।' इसमें आदि के 'ब्रू' का ऊ प्लुत होता है।

(२) 'अग्नये गोमयानि प्रे३ष्य।' यहाँ 'प्रे' का 'ए' प्लुत होता है।

(३) 'अस्तु श्रौ३षट्।' इसमें 'श्रौ' का 'औ' प्लुत होता है।

(४) 'सोमस्याग्ने व्रीही वौ३षट्।' इसमें 'वौ' का 'औ' प्लुत होता है।

---

१. 'यज्ञकर्मणि' 'प्लुतः' इति चानुवर्तते। सूत्रे 'आदेः' इति ग्रहणादादेः प्लुतो भवति। 'अयं विधिः बहुलं प्रवर्तते' इति काशिका।

'अग्निमा३वह।' (तै. ब्रा. ३।५।१।२)

(२२५) ३६११ अग्नीत्प्रेषणे परस्य च[1]। (८-२-९२) अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतस्तस्मात्परस्य च। 'ओ३श्रा३वय।'

(२२६) ३६१२ विभाषा पृष्टप्रतिवचने[2] **हेः**। (८-२-९३) प्लुतः।

(५) 'अग्निमा३वह' इसमें आवह का 'आ' प्लुत होता है।

श्रौषट्, वौषट् ये निपातशब्द हैं। ब्रूहि, प्रेष्य और आवह—ये तीन लोट् मध्यम पुरुष एकवचन के रूप हैं। कुछ विद्वान् 'आवह' को भी निपात मानते हैं।

इस सूत्र की काशिकावृत्ति के व्याख्याता पदमञ्जरीकार हरदत्त ने यहाँ पर कुछ विशेष लिखा है—"पित्र्यायामनुस्वधेति सम्प्रेष्येत्यत्रापि अनुस्व३धेति प्लुतो भवति ब्रूहिस्थानापन्नत्वात् स्वधाशब्दस्य। तथा अस्तु स्वधेति प्रत्याश्रवणमित्यत्रापि भवति, अस्तु स्वधेति श्रौषट्स्थानापन्नत्वात्। तथा च वषडित्येके समामनन्ति, वौषडित्येके, वाषडित्येके—वौक्षडित्येक, वाक्षडित्येके, वक्षाडित्येके इति षड्विधस्यापि वषट्कारस्य प्लुतो भवति, वषट्कारोपलक्षणत्वाद् वौषट्शब्दस्य। (पदमञ्जरी ८।२।९१)॥२२४॥

अग्नीत् = अग्नि में हवन करने वाला ऋत्विग्विशेष उसका प्रेषण = कार्य में नियोजन = अग्नीत्प्रेषणम्, उसके वाचक शब्द में आदि का और उससे परवर्ती द्वितीय का अर्थात् दोनों का प्लुत होता है यज्ञकर्म में।

उदा०—'ओ३श्रा३वय।' यहाँ आदि का 'ओ' उससे परे 'श्रा' का 'आ' ये दोनों प्लुत हो जाते हैं। ('आदेः परस्य च'—इनके ग्रहण के कारण अन्य किसी का प्लुत नहीं होता है।) इसी के लिये यह सूत्र बनाया गया है। अतः 'अग्नीदग्नीन् विहर'—आदि में ऐसा नहीं हो पाता है॥२२५॥

पृष्टप्रतिवचन = पृष्ट = पूछे गये प्रश्न के उत्तर में कहा जाना—पृष्टप्रतिवचन है, अर्थात् प्रश्न के उत्तर में प्रयुक्त 'हि' शब्द विकल्प से प्लुत होता है।

---

१. 'आदेः' इति 'प्लुतः' इति चानुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकारः। 'यज्ञकर्मणि' एव प्रवृत्तिः।

२. पृष्टस्य प्रतिवचनम् = आख्यानम्, प्रत्युत्तरम्—प्रतिवचनम्। तत्र 'हि' शब्दो विभाषा प्लुतो भवति।

अकार्षीः कटम् ? अकार्ष हि३। अकार्ष हि।

पृष्टेति किम्–कटं करिष्यति हि। हेः किम्–कटं करोति ननु।

(२२७) ३६१३ निगृह्यानुयोगे च[1]। (८-२-९४) अत्र यद्वाक्यं

उदा०—अकार्षीः कटम् ? (तुमने चटाई बना दी?) इस प्रश्न के उत्तर में किसी ने कहा—"अकार्ष हि३, अकार्ष हि।" (हाँ, मैंने चटाई बना दी।) इस उत्तर वाक्य में प्रयुक्त 'हि' की टि प्लुत होती है विकल्प से। अतः प्लुतवाला त्रैमात्रिक और प्लुताभाव वाला एकमात्रिक दोनों प्रकार के रूप होते हैं।

'पृष्ट' (पूछा गया)—इसके ग्रहण का क्या फल है? कटं करिष्यति हि। (वह चटाई बनायेगा। यह सामान्य कथन है न कि किसी प्रश्न का उत्तर, अतः प्लुत नहीं होता है।)

'हि' का प्लुत होता है? इसके ग्रहण का क्या फल है? 'कटं करोति ननु।' इसमें 'हि' नहीं है अतः प्लुत नहीं होता है।

'प्रतिवचन' शब्द विरुद्ध अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। जैसे—प्रतिमल्लः, प्रतिकुञ्जरः। इसी प्रकार—'वचनं वचनं प्रति—इति प्रतिवचनम्—' यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रतिवचन' शब्द है। समाधान अर्थ में भी प्रतिवचन शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे—इसके द्वारा कहे प्रश्न का मैंने प्रतिवचन दे दिया। इसके अतिरिक्त पृष्टप्रतिवचन अर्थ में भी यह प्रतिवचन शब्द प्रयुक्त होता है। अतः इस अनेकार्थक 'प्रतिवचन' शब्द का प्रयोग 'पृष्टस्य प्रतिवचनम्'—इसी अर्थ में समझा जाय, अन्य कोई अर्थ न लिया जाय, इस स्पष्टीकरण के लिये 'प्रतिवचन' के विशेषण के रूप में 'पृष्ट' का उल्लेख करना आवश्यक था॥२२६॥

निग्रह करके अनुयोग के विषय में जो वाक्य उसकी टि का प्लुत होता है।

'स्वमतात् प्रच्यावनम् = निग्रहः। अनुयोगः = तस्य मतस्याविष्करणम्।' काशिकाकृत इस व्याख्या के अनुसार किसी को अपने निजीमत = पक्ष से अलग कर देना निग्रह है। और जिस मत = पक्ष से उसे प्रच्यावित = अलग किया गया है, हटाया गया है उसी मत को अपना मत = पक्ष प्रकट कर देना, दोहरा देना अनुयोग है।

---

१. 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः' (८।२।९४) इत्यतो 'विभाषा' इति, 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त' (८।२।८२) इति सम्पूर्ण सूत्रं चानुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकारः। स्वमतात् = स्वपक्षात् प्रच्यावनम् = अपनयनम्। निगृह्य इति ल्यबन्तम्।

तस्य टेः प्लुतो वा। अद्यामावास्येत्यात्थ३। अद्यमावास्येत्यात्थ। अमावास्येत्येवं वादिनं युक्त्या स्वमतात् प्रच्याव्य एवमनुप्रयुज्यते।

(२२८) ३६१४ आम्रेडितं भर्त्सने[1]। (८-२-९५) दस्यो३ दस्यो३

'निगृह्य' यह निपूर्वक ग्रह धातु से क्त्वा = ल्यप् करके बना है।

उदा० किसी एक व्यक्ति से किसी दूसरे से कहा—'अद्य अमावस्या इति आत्थ३' (आज अमावस है—ऐसा कह रहे हो?' 'आज अमावस है—ऐसा कहने वाले व्यक्ति को युक्तियों = तर्कों तथा प्रमाणों के द्वारा अपने मत = कथन, बात से हटा कर, अर्थात् उसके कथन का खण्डन करके फिर असूयादि के साथ इस प्रकार कहा जाता है—'अद्य अमावस्या इत्यात्थ३।'

भाव यह है कि कभी दो व्यक्तियों में परस्पर विवाद हो जाता है। पहला कहता है—'आज अमावस्या है।' इसे सुनकर दूसरा व्यक्ति युक्तियों के बल से उसकी बात का खण्डन करके अर्थात् उसे अपने वक्तव्य से परास्त कर देता है किन्तु उस वक्ता की बात सत्य है अतः फिर उसी की बात को अपना मत कहकर प्रकट कर देता है—'अद्य अमावस्या इत्यात्थ३।' आज अमावस है ऐसा कह रहे हो।' यहाँ प्रथमवादी की बात को ही इर्ष्यादि के साथ द्वितीय वादी प्रकट कर देता है। अतः इसमें प्रयुक्त वाक्य की टि का प्लुत विकल्प से होता है। अतः दोनो रूप होते हैं—प्लुतवाला और प्लुताभाव वाला।

अधिकांश सम्पादकों ने प्लुताभाव वाला रूप प्रकाशित नहीं किया है। उन्हें काशिकावृत्ति देखकर प्लुताभाव वाला रूप भी जोड़ देना चाहिये॥२२७॥

भर्त्सन अर्थ रहने पर आम्रेडितसंज्ञक शब्द प्लुत होता है।

'तस्य परमाम्रेडितम्' (८।१।२) सूत्र के अनुसार द्वित्व में बाद वाले शब्द रूप की आम्रेडित संज्ञा होती है। ऐसा द्वित्व कहाँ-कहाँ होता है। इस विषय में सूत्र है—"वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु।" (८।१।८) वाक्य के आदि में विद्यमान आमन्त्रित = सम्बोधन एकवचन शब्द का द्वित्व होता है असूयादि अर्थ रहने पर।" भर्त्सन का आशय अपकारजनक शब्दों का प्रयोग।

उदा०—दस्यो दस्यो३ घातयिष्यामि त्वाम्। (डाकू, डाकू! तुझे मरवा डालूँगा।)

---

१. 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८२) इत्यतः 'टेः प्लुत उदात्त' इत्यनुवर्तते। 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु' (८।१।८) इति सूत्रेण अदेरामन्त्रितस्य द्वित्वमुक्तम्, तत्र 'तस्य परमामेडितम्' इत्यनेन' द्वित्वे परस्याम्रेडितसंज्ञा क्रियते, तस्यैवाम्रेडितस्य प्लुतोऽनेन विधीयते।

घातयिष्यामि त्वाम्। आम्रेडितग्रहणं द्विरुक्तोपलक्षणम्। चौर ३ चौर३।

(२२९) ३६१५ अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम्[1]। (८-२-९६) अङ्गेत्यनेन युक्तं तिङन्तं प्लवते। अङ्ग कूज३ इदानीं ज्ञास्यति जाल्म।

यहाँ भर्त्सन अर्थ में पहले 'दस्यो' इसका द्वित्व होता है। उसके बाद परवर्ती की आम्रेडित संज्ञा होती है और उसका प्लुत प्रस्तुत सूत्र से होता है।

(इस सूत्र पर वार्तिक है—'भर्त्सने पर्यायेणेति वक्तव्यम्' अर्थात् सूत्र द्वारा पहले वाला और बाद वाला दोनों क्रमशः प्लुत होते हैं ऐसा कहना चाहिये। इस पर काशिका तथा कौमुदी दोनों में यह लिखा है कि—आम्रेडित का ग्रहण द्विरुक्ति का उपलक्षण है 'एकैकस्य प्राचाम्' (८।२।८६) से एकैकस्य—इसकी अनुवृत्ति होती है। अतः दोनों का प्लुत पर्याय से किया जाता है। उदा०—चौर चौर३। यहां पहले बादवाला आमन्त्रित प्लुत हुआ है दुबारा पहले वाला भी प्लुत होता है—चौर३ चौर अतः वार्तिक की आवश्यकता नहीं है।।२२८।।

'अङ्ग' इस शब्द के साथ प्रयुक्त तिङन्त शब्द प्लुत हो जाता है साकाङ्क्ष रहने पर। भाव यह है कि जब किसी वाक्य में एक तिङन्त को किसी अन्य तिङन्त शब्द रूप की आकाङ्क्षा रहती है तब उस साकाङ्क्ष तिङन्त का प्लुत होता है। ध्यान रखना चाहिये कि आकाङ्क्षा अर्थविषयिणी होती है। अतःजब किसी एक तिङन्तार्थ को किसी अन्य तिङन्तार्थ की आकांक्षा बनी रहती है, उसके विना अपूर्ण अर्थ रहता है तब साकाङ्क्ष तिङन्त प्लुत हो जाता है—'आकाङ्क्षति इति आकाङ्क्षम्,—पचाद्यच्' इस व्युत्पत्ति द्वारा 'आकाङ्क्ष' का अर्थ है—आकाङ्क्षा रखने वाला। अर्थात् साकाङ्क्ष तिङन्त प्लुत होता है।

उदा०—अङ्ग कूज३, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। (अरे चिल्ला ले नीच !, अभी समझेगा। अङ्ग शब्द अमर्ष = असहन अर्थ में है। 'कूज' यह लोट् मध्यम पुरुष, एकवचन है। किसी अपवक्ता के लिये यह वाक्य है। यहाँ 'अङ्ग' के साथ तिङन्त 'कूज' प्रयुक्त है और यह किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा रख रहा है, साकाङ्क्ष है। अतः प्लुत हो जाता है।

१. वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यतः 'प्लुतः उदात्तः' इति, 'आम्रेडितं' भर्त्सने' इत्यतः भर्त्सने' इति चानुवर्तते। अङ्गशब्दोऽमर्षे। आकाङ्क्षति इति आकाङ्क्षम्। तिङन्तमाकाङ्क्षते = अपेक्षते—इति तिङाकाङ्क्षम्, पचाद्यच्।

तिङ् किम्—अङ्ग देवदत्त मिथ्या वदसि। आकाङ्क्षं किम्—अङ्ग पच। नैतदपरमा-काङ्क्षति। भर्त्सन इत्येव। अङ्गाधीष्व भक्तं तव दास्यामि।

(२३०) ३५१६ विचार्यमाणानाम्[1]। (८-२-९७) वाक्यानां टेः

'तिङ् = तिङन्त'—प्लुत होता है, इसका क्या फल है? अङ्ग देवदत्त ! मिथ्या वदसि। अरे देवदत्त ! तुम झूठ बोल रहे हो।' यहाँ अङ्गयुक्त तिङन्त न होकर सुबन्त 'देवदत्त' है। अतः यह प्लुत नहीं होता है। यदि सूत्र में 'तिङ्' न रहता तो यह भी प्लुत होने लग जाता।

आकाङ्क्षम् = साकाङ्क्ष हो—इसके ग्रहण का क्या फल है? अङ्ग पच। (अरे पकाओं।) यह किसी अन्य तिङन्त की आकाङ्क्षा नहीं रखता है। अतः यह प्लुत नहीं होता है।

यह सूत्र 'भर्त्सन' अर्थ में ही प्रवृत्त होता है। अतः 'अङ्ग अधीष्व, ओदनं ते दास्यामि। 'अरे पढ़ो, तुम्हें भात दूँगा।' यहाँ भर्त्सन नहीं है अपितु प्रलोभन है। अतः तिङन्त प्लुत नहीं होता है। यद्यपि 'अधीष्व' इसे अन्य तिङन्त की आकांक्षा रहती है तथापि सामान्य वाक्य होने से यह सूत्र प्लुत नहीं करता है। यहाँ 'अङ्ग' शब्द 'अमर्ष' अर्थ वाला नहीं है अपितु 'अनुनय' अर्थ वाला है।

'अङ्ग' शब्दों के अनेक अर्थ निम्न श्लोक में वर्णित है—

"क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा।
हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते।।"।।२२९।।

विचार्यमाण विषय के प्रतिपादक वाक्यों की टि का प्लुत होता है। प्रमाण द्वारा किसी वस्तु का परीक्षण = विचार कहा जाता है। इस प्रकार के विचार के विषयीभूत

१. अत्र 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८) इति सूत्रमनुवर्तते। अत्र पदमञ्जरीकारः—

"कोटिद्वयस्य विज्ञानं विचार इति कथ्यते।
विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते।।

इह तु विचार्यमाणार्थविषयीभूतत्वाद् वाक्यानि विचार्यमाणानि। तादृशानां वाक्यानां टेः प्लुतो भवतीति भावः। 'गृहे' इत्यत्र टेः प्लुतप्रसङ्गे 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्ध-स्यादुत्तरस्येदुतौ' (८।२।१०७) इत्यनेन 'ए' इत्यस्य पूर्वस्य अर्धस्य आत् क्रियते, तस्यैव च प्लुतोपि क्रियते, उत्तरस्येकारः—गृहा३इ। उत्तरवाक्ये यकाराकारः प्लुतो भवति।

प्लुतः। 'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३ इ।' (तै. ६।१।४।५) न होतव्य३मिति। होतव्यं न होतव्यमिति विचार्यते। प्रमाणैर्वस्तुतत्त्वपरीक्षणं विचारः।

वाक्यों की टि का प्लुत होता है। विचार्यमाण का स्वरूप पदमञ्जरीकार ने यह लिखा है—

"कोटिद्वयस्य विज्ञानं विचार इति कथ्यते।
विचार्यमाणस्तज्ज्ञानविषयीभूत उच्यते॥"

उदा०—'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३ इति?' 'न होतव्य३ मिति।' दीक्षाप्राप्त व्यक्ति के घर हवन करना चाहिये' अथवा 'हवन नहीं करना चाहिये।') यहाँ पर 'हवन करना चाहिये अथवा नहीं करना चाहिये'—यह विचार्यमाण है। इसमें दोनों वाक्यों की टि का प्लुत होता है।

प्रमाणों द्वारा किसी वस्तुतत्त्व का परीक्षण करना विचार है। यहाँ हवन करने और न करने का विचार किया जा रहा है। अतः ऐसे विचार्यमाण अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों को भी विचार्यमाण कह दिया जाता है।

उदा०—'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३ इति।' इसमें वाक्य की टि = ए का प्लुत प्रस्तुत सूत्र से किया जाता है। इसके बाद आगे वक्ष्यमाण सूत्र "एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ" (८।२।१०७) इस सूत्र द्वारा 'ए' के आदि भाग अ का 'आत्' = आ आदेश होता है और वही प्लुत होता है और शेष जो उत्तर भाग है उसका इत् आदेश हो जाता है। भाव यह है कि जब 'ए' प्लुत हो जाता है तब इसके मूल स्वर अ + इ में पूर्वार्ध अ का 'आ' होता है और वह प्लुत = त्रैमात्रिक होता है, शेष भाग इकार होता है। इसी लिये 'आ' के बाद प्लुत का चिह्न ३ लगाया जाता है। इसी कारण 'गृहा३इ' ऐसा लिखा है। द्वितीय वाक्य में 'होतव्य३म्' 'य' का अ प्लुत होता है। वास्तव में पहले वाले वाक्य में ही प्रश्नवाचक चिह्न लगा देने पर दूसरे वाक्य की आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ ?'। इसीलिये काशिका में एक ही वाक्य लिखा गया है। दीक्षित जी ने स्पष्टतार्थ दो वाक्य लिखे हैं॥२३०॥

(२३१) ३६१७ पूर्वं तु भाषायाम्[1]। (८-२-९८) विचार्यमाणानां पूर्वमेव प्लवते। अहिर्नु३ रज्जुर्नु। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वम्। इह भाषाग्रहणात् पूर्वयोगश्छन्दसीति ज्ञायते।

(२३२) ३६१८ प्रतिश्रवणे च[2]। (८-२-९९) वाक्यस्य टेः प्लुतोऽभ्युपगमे प्रतिज्ञाने श्रवणाभिमुख्ये च। गां मे देहि भोः? हन्त ते

भाषा = लौकिक संस्कृत में तो विचार्यमाण विषय के प्रतिपादक वाक्यों में पूर्ववाला ही प्लुत होता है। यहाँ प्रयोग को मानकर पूर्वत्व समझना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र में 'भाषायाम्' इसका उल्लेख है। इस कारण यह प्रतीत होता है कि इससे पहले वाला सूत्र केवल वेदविषय में प्रवृत्त होता है।

उदा०—अहिर्नु३, रज्जुर्नु। (यह साँप है अथवा रस्सी?। 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में है। इसमें प्रथम वाक्य है—'अहिर्नु' यही प्लुत होता है।

प्रयोगापेक्ष पूर्वत्व मानने से जो भी वाक्य पहले रहता है वही प्लुत होता है। जैसे—अहिर्नु३, रज्जुर्नु। यहाँ 'अहिर्नु' यह प्लुत होता है। यदि 'रज्जुर्न, अहिर्नु' ऐसा प्रयोग कर दिया जाय तो 'रज्जुर्नु३' यही प्लुत होता है।

यह कार्य तो पूर्ववर्ती सूत्र से भी सिद्ध था, तब यह सूत्र बनाना नियमार्थ ही है—'पूर्व ही प्लुत होता है'॥२३१॥

प्रतिश्रवण = (क) अभ्युपगम (= स्वीकार काना), (ख) प्रतिज्ञान = प्रतिज्ञा करना और (ग) श्रवणाभिमुख्य = किसी की बात को सुनने के लिये प्रवृत्त होना—इन अर्थों में वाक्य की टि का प्लुत होता है। (सूत्र में किसी अर्थविशेष का आग्रह न होने के कारण प्रतिश्रवण के इन तीनों अर्थों का ग्रहण होता है।)

क्रमशः उदाहरण—(क) स्वीकार करना 'गां मे देहि भोः३।' (श्रीमन् ! मुझे गाय

---

१. *'विचार्यमाणानाम्' इति सूत्रम्, 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यतः 'प्लुतं उदात्त' इति चानुवर्तते। 'पदस्य' इत्यधिकारः। पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्। प्रयोगापेक्षं पूर्वत्वं गृह्यते। तु शब्दस्त्विष्टतोऽवधारणर्थः, यथैवं विज्ञायेत—पूर्वमेव भाषायामिति, मैवं विज्ञायि—पूर्वं भाषायामेवेति।*

२. *प्रतिश्रवणमभ्युपगमः = अङ्गीकारः। प्रतिज्ञानम् = प्रार्थितस्य देयत्वेन संवादः। श्रवणाभिमुख्यम् = तत्कथनश्रवणे सावधानत्वम् । क्रमशः त्रयाणामप्युदाहरणानि।*

ददामि ३। नित्यः शब्दो भवितुमर्हति ३। दत्त ! किमात्थ३?

(२३३) ३६१९ अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः[1]। (८-२-१००)

अनुदात्तः प्लुतः स्यात्। दुराद्धूतादिषु सिद्धस्य प्लुतस्यानुदात्तत्वमात्रमनेन

दे दीजिये) ऐसी किसी की बात सुनकर सुनने वाला व्यक्ति उसे गाय देने की स्वीकृति देता है—'हन्त ! ते ददामि३।' (हाँ, मैं तुम्हें गाय देता हूँ।) यहाँ स्वीकृति अर्थ प्रतीत हो रहा है। अतः वाक्य की टि का प्लुत हो जाती है।

(ख) प्रतिज्ञान—प्रतिज्ञा करना। पदमञ्जरीकार हरदत्त के अनुसार—"प्रतिज्ञानमिति। प्रार्थितदेयत्वेन संवादः। 'नित्यः शब्दो भवितुमर्हति३। (शब्द नित्य होता है।—यह किसी की प्रतिज्ञा है।' अतः टि का प्लुत होता है। न्यायशास्त्र की अनुमिति प्रक्रिया में पञ्चावयव वाक्य—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन—इनमें सर्वप्रथम प्रतिज्ञा है उसी प्रकार की 'प्रतिज्ञा' यहाँ गृहीत है।

(ग) श्रवणाभिमुख्य—'दत्त ! किमात्थ३। (अरे दत्त ! तुम क्या कह रहे हो?) यहाँ श्रोता वक्ता दत्त की बातों को सुनने के लिये सावधान होता हुआ दिखाई देता है। क्योंकि 'किम्' द्वारा प्रश्न करके उसकी बात को पुनः सुनने की इच्छा प्रतीत होती है॥२३२॥

प्रश्नान्त = प्रश्नवाक्य का अन्त और अभिपूजित में जो अनुदात्त है वह प्लुत हो जाता है।

(प्रश्नान्त—इसका आशय हरदत्त ने यह लिखा है—'प्रश्नवाक्ये यच्चरमं प्रयुज्यते स प्रश्नान्तः।' यही पंक्ति नागेश ने भी उद्धृत की है।)

'दूराद्धूते च' (८।२।२४) सूत्र से दूर के सम्बोधन में प्रयुक्त वाक्य की टि का प्लुत हो जाता है। और उससे भिन्न स्थलों पर 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' (८।२।१०५) इस वक्ष्यमाण सूत्र से अन्त्य और अनन्त्य सभी पदों की टि का प्लुत

१. 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यत 'प्लुत' इत्यनुवर्तते, 'पदस्ये' त्यधिकारः। प्रश्नवाक्ये यच्चरमं प्रयुज्यते सः प्रश्नान्तः। नानेन प्लुतो विधीयते किन्तु दूराद्धूतादिषु विहितस्य प्लुतस्योदात्तत्वे प्राप्ते प्रश्नान्ताभिपूजितयोरनुदात्तत्वमात्रं विधीयते। एवञ्च प्रश्नान्ते अभिपूजिते च यः प्लुतः सोऽनुदात्तो भवतीति। तत्राभिपूजिते 'दूराद्धूते' इत्यनेन प्रश्नान्ते च 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' इत्यनेनेति बोध्यम्।

विधीयते। अग्निभूता३ इ। पटा३ उ। अग्निभूते पटो—एतयोः प्रश्नान्ते टेरनुदात्तः प्लुतः। शोभनः खल्वसि माणवक३।

होता है। उसे भी अनुदात्त किया जाता है। अतः इस सूत्र से केवल अनुदात्तत्व का विधान किया जाता है।

उदा०—सिद्धान्तकौमुदी में प्रश्नवाक्य न लिखकर केवल एक पद 'अग्निभूत३' इतना ही लिखा है। काशिका में प्रश्नवाक्य पूरा लिखा है—"अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ" यह प्रश्नवाक्य है उक्त सूत्र से सभी पदों की टि का प्लुत हो जाता है। इसमें अन्तिम प्लुत 'अग्निभूता३इ' का अनुदात्तत्व प्रस्तुत सूत्र से किया जाता है।

ध्यान रखें ये दो वाक्य हैं। एक के अन्त में 'अग्निभूता३इ' यह है। और दूसरा वाक्य भी 'आगमः३' पूर्वा३न् ग्रामा३न् पटा३उ—यह है। यहाँ 'पटा३उ' इसका प्लुत भी अनुदात्त हो जाता है।

अधिकांश सम्पादकों ने एक ही वाक्य मान लिया है। किन्तु न्यास और पदमञ्जरी के अनुसार दोनों को अलग-अलग अन्त्य मानकर दो वाक्य माने गये हैं और यही उचित भी है।

ध्यान रखना चाहिये कि ए तथा ओ का जो पूर्वभाग है उसी का अनुदात्तत्व विधान किया जाता है। शेष उत्तरभाग के स्थान पर तो 'एचोऽप्रगृह्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ' (८।२।१०७) सूत्र से इत् = इकार और उत् = उकार आदेश हो जाते हैं। और पूर्वभाग के स्थान पर 'आत्' = आ हो जाता है। यही पूर्वभाग प्लुत अनुदात्त होता है। शेष भाग उदात्त रहता है—"स च पूर्व भागस्य, उत्तरस्य तु उदात्ताविदुतौ भवतः।" ऐसा पदमञ्जरीकार और नागेश दोनों ने लिखा है।

अभिपूजित अर्थ का उदाहरण है—'शोभन; खल्वसि माणवक३।' यहाँ अभिपूजित = प्रशस्ति अर्थ में यह वाक्य है। 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) सूत्र से वाक्य का टि प्लुत होता है। उसका इस सूत्र से अनुदात्त हो जाता है॥२३३॥

(२३४) ३६२० चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने[1]। (८-२-१०१)

वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतः। अग्निचिद्भाया३त् = अग्निरिव भायात्। उपमार्थे किम्–कथंचिदाहुः। प्रयुज्यमाने किम्–अग्निर्माणवको भायात्।

'चित्' यह निपात उपमा = उपमान अर्थ में प्रयुक्त हो तो उस वाक्य की टि का अनुदात्त प्लुत हो जाता है। इसमें 'चित्' के साथ 'इति' शब्द रहने से केवल इसी 'चित्' के प्रयोग में यह सूत्र अनुदात्त और प्लुत करता है। 'चित्' निपात के अनेक अर्थ निरुक्त आदि में कहे गये हैं उनमें से केवल 'उपमा' = उपमान अर्थ में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है।

उदा०—'अग्निचिद् भाया३त्।' इसका अर्थ है—'अग्निरिव भायात्।' अर्थात् अग्नि के समान प्रकाशित होवे। यहाँ वाक्य की टि 'भायात्' के आ का अनुदात्त प्लुत होता है। यह सूत्र अनुदात्तत्व और उसका प्लुतत्व दोनों कार्य करता है क्योंकि इसमें 'अनुदात्तम्' इसकी अनुवृत्ति आती रहती है।

विमर्श—कुछ सम्पादकों ने 'अग्निरिव भाया३त्' इसको भी प्लुत का उदाहरण कर दिया है, किन्तु यह प्रमाद-ग्रस्त है। क्योंकि यह तो 'अग्निचिद् भायात्' का अर्थबोधक वाक्य है। यह सूत्र तो उपमानार्थक चित् के प्रयोग में ही प्रवृत्त होता है। 'इव' आदि के योग में नहीं।

'उपमा' = उपमान अर्थ में ही रहने पर—इसका क्या प्रयोजन है? 'कथञ्चिदाहुः।' यहाँ 'चित्' शब्द कृच्छ्र = कष्ट अर्थ में है। अतः यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है।

'चित्' इसका प्रयोग रहने पर ही—इस कथन का क्या प्रयोजन है? अग्निर्माणवको भायात्। (माणवक अग्नि के समान चमके। यहाँ उपमान अर्थ तो प्रतीत होता है किन्तु 'चित्' शब्द प्रयुक्त नहीं है। अतः यह सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता॥२३४॥

---

१. 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' इत्यतः अनुदात्तम्' इति, 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्यतः 'प्लुतः' इति चानुवर्तते। 'पदस्ये' त्यधिकारः। "इतिकरणः किमर्थः? अक्रियमाणे तस्मिन् उपमानार्थे कस्मिंश्चिच्छब्दे प्रयुज्यमाने चिच्छब्दः प्लुतः विज्ञायेत। इतिकरणे तु सति 'प्रयुज्यमाने' इत्येत् चिच्छब्दस्य विशेषणम्। प्लुतस्तु 'वाक्यस्य टे' रित्यधिकारात्तस्यैव भवतीति पदमञ्जरी। निरुक्तादौ चिच्छब्दस्यानेके अर्थास्तत्र केवलमुपमार्थक एवात्र ग्राह्यः।

(२३५) ३६२१ उपरिस्विदासीदिति च[1] (८-२-१०२) टेः प्लुतोऽनुदात्तः स्यात्। 'उपरिस्विदासी३त्।' (तै. ब्रा. २।८।९५) 'अधः स्विदासी३दि (ऋ. १०।१२९।५) त्यत्र तु '**विचार्यमाणानाम्**' (८।२।९७।३६१६) इत्युदात्तः प्लुतः।

(२३६) ३६२२ स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासंमतिकोपकुत्सनेषु[2]।

'[3]उपरिस्विदासीत्' इस वाक्य की टि का अनुदात्त प्लुत होता है।

उदा०—'उपरिस्विदासी३त्।' सृष्टि होने के पूर्व नभः सृष्टिकर्ता के ऊपर था अथवा 'अधः स्विदासीत्' = नीचे था। यहाँ पूर्ववाक्य की टि का प्लुत अनुदात्त हो जाता है। यह प्रश्न वाक्य है। अतः 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः (८।२।१००) सूत्र से अन्तिम पद अनुदात्त होता है। उसका प्लुत किया जाता है।

किन्तु इसका जो दूसरा वाक्य है—"अधः स्विदासी३त्' इसका 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) सूत्र से उदात्त प्लुत होता है। अतः यह उदाहरण प्रस्तुत सूत्र का नहीं समझना चाहिये।

इस विषय में न्यासकार के वचन द्रष्टव्य हैं—"**अधः स्विदासीदित्यत्रेति।** अधः स्विदासीद् उत उपरिस्विदासीद् -इत्येतद् विचार्यते। तत्र पूर्वस्मिन् वाक्ये 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) इत्यादिनोदात्तः प्लुतः, इतरस्मिंस्त्वनेनानुदात्तः, तस्यैवापवादः।" प्रस्तुत सूत्रपर न्यास॥२३५॥

आम्रेडित परे रहते यदि असूया, सम्मति, कोप अथवा कुत्सन (= निन्दा) अर्थ प्रतीयमान हो तो स्वरित प्लुत हो जाता है।

---

१. 'अनुदात्तं' प्रश्नान्ता०' इत्यतः 'अनुदात्तम्' इति 'वाक्यस्य टे 'रित्यतः 'टे' रिति, 'पदस्य' इति चानुवर्तते। अत्र 'उपरिस्विदासी३त्' इति वाक्ये 'विचार्यमाणाम्' इत्यनेन विहितस्य प्लुतस्य अनुदात्तत्वमात्रमनेन क्रियते। 'अधः स्विदासी३द्' इत्यत्र तु उदात्त प्लुत एव।

२. वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनेषु (८।१।८) इति द्विर्वचनमुक्तम्। तत्रायं प्लुतविधिः। महाभाष्ये 'असूयादिषु वावचन' मिति वार्तिकं पठितम्। किन्तु दीक्षितेन नैवोद्धृतम्। काशिकायां वर्तते। नागेशेनापि एवं व्याख्यातम्-'अयमपि प्लुतो वैकल्पिकः।

३. टि० तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासी३द्। रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ (ऋ० १०।१२९।५)

(८-२-१०३) स्वरितः प्लुतः स्यादाम्रेडिते परेऽसूयादौ गम्ये। असूयायाम्- अभिरूपक ३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ-अभिरूपक ३ अभिरूपक शोभनोऽसि। कोपे-अविनीतक ३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने-शाक्तीक ३ शाक्तीक रिक्ता ते शक्तिः।

(२३७) ३६२३ क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्।[१] (८-२-१०४)

क्रमशः उदा० असूया—अभिरूपक ३अभिरूपक ! रिक्तं ते आभिरूप्यम्। (ओ सुन्दर पुरुष ! सुन्दर पुरुष ! तेरी सुन्दरता समाप्त हो चुकी है।) यहाँ असूया प्रतीत हो रही है। यहाँ 'वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' (८।१।८) इस सूत्र से असूयादि अर्थों में आमन्त्रित का द्वित्व किया जाता है इस सूत्र में 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' (८।२।८८) सूत्र से 'टे प्लुतः' की अनुवृत्ति आती है उसका यह स्वरितत्व विधान कर देता है। यह स्थिति सभी उदाहरणों में समझनी चाहिये अर्थात् यह केवल स्वरितत्व गुण का ही विधान करता है। इस विषय में पहले 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (८।२।१००) सूत्र की व्याख्या में स्पष्टीकरण दिया जा चुका है।

सम्मति—अभिरूपक!३ अभिरूपक ! शोभनोऽसि। (हे सुन्दर पुरुष !३ तुम वास्तव में सुन्दर हो) यहाँ सम्मति प्रतीत होने से स्वरित प्लुत होता है।

कोप—अविनीतक!३ अविनीतक !, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। (अरे अविनीत (ढीठ) पुरुष! तुम अभी जान जाओगे अर्थात् अपने अविनय का फल तुम्हें शीघ्र ही मिल जायगा। यहाँ भी प्रथम आमन्त्रित स्वरित प्लुत होता है।

कुत्सन—शाक्तीक ! ३ शाक्तीक! रिक्ता ते शक्ति। (अरे शक्ति नामक अस्त्र चलाने वाले पुरुष ! तेरा शक्ति नामक अस्त्र समाप्त हो चुका है, अब उससे किसी का वध आदि नहीं कर सकते हो।) यहाँ भी प्रथम आमन्त्रित का स्वरित प्लुत होता है॥३६॥

क्षिया = आचारोल्लङ्घन, आशीः और प्रैष = आज्ञा देना—इन अर्थों के प्रतीत होने पर साकाङ्क्ष तिङन्त की टि का स्वरित प्लुत होता है।

क्रमशः उदा० क्षिया = आचार के उल्लङ्घन का—'स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति।' (स्वयं तो रथ से अर्थात् रथ पर बैठ कर जा रहा है और उपाध्याय अर्थात् अपने गुरु को पैदल चला रहा है।) यहाँ आचार का उल्लंघन

१. आकाङ्क्षतीति-आकाङ्क्षम्। तिङन्तमुत्तरपदस्याकाङ्क्षां करोति।

आकाङ्क्षस्य तिङन्तस्य टेः स्वरितः प्लुतः स्यादाचारभेदे। स्वयं ह रथेन याति३, उपाध्यायं पदातिं गमयति। प्रार्थनायाम्-पुत्रांश्च लप्सीष्ट ३ धनं च तात। व्यापारणे- कटं कुरु ३ ग्रामं गच्छ। आकाङ्क्षं किम्-दीर्घायुरसि अग्नीदग्नीन्विहर।

(२३८) ३६२४ अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः[१]। (८-२-१०५)

प्रतीत हो रहा है अतः क्षिया है और पूर्ववर्ती तिङन्त को अन्य क्रियापद की आकाङ्क्षा भी है। अतः उस तिङन्त की टि = इ का स्वरित प्लुत हो जाता है।

आशीः = प्रार्थनाविशेष—'पुत्रांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात !' (अरे तात = भाई ! तुम अनेक पुत्रों को प्राप्त करो और धन को प्राप्त करो।) यहाँ एक क्रियापद है उसे दूसरे पद की आकाङ्क्षा रहती है। अतः अध्याहार से उसका भी बोध किया जाता है। प्रथम तिङन्त की टि का स्वरित प्लुत होता है।

प्रेष = आज्ञा देना—'कटं कुरु३, ग्रामं गच्छ।' (चटाई बना दो, गाँव चले जाना) यहाँ आज्ञा प्रतीत हो रही है। साथ ही वक्ता के उच्चारण से साकाङ्क्षता भी प्रतीत हो जाती है। अतः तिङन्त की टि का स्वरित प्लुत हो जाता है।

आकाङ्क्षति = आकाङ्क्षा रखने वाला आकांक्ष होता है। इस सूत्र में 'आकाङ्क्ष—इसके ग्रहण का क्या फल है? दीर्घायुरसि अग्नीद्, अग्नीन् विहर। (हे अग्नि में हवन करने वाले पुरुष! तुम दीर्घायुः हो, अग्नि को विशेष रूप से लाओ, अर्थात् अग्नि को और जलाते रहो! यहाँ पूर्व तिङन्त को किसी की आकाङ्क्षा नहीं है। अतः प्रस्तुत सूत्र नहीं प्रवृत्त होता है। अतः यहाँ पूर्व तिङन्त की टि का प्लुत और स्वरित दोनों ही नहीं होते हैं॥२३७॥

प्रश्न और आख्यान की प्रतीति रहने पर अनन्त्य = जो अन्तिम पद नहीं रहता है उसकी भी टि का स्वरित प्लुत होता है अर्थात् अन्त्य और अनन्त्य सभी

१. 'पदस्य' (८।१।१६) इति सूत्रं, 'स्वरितमाम्रेडिते' (८।२।१०३) इत्यतः स्वरितमिति चानुवर्तते। "नन्वन्त्यस्यानुदात्तम्, 'प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (८।२।१००) इत्यनुदात्तप्लुतेन भवितव्यम्, तत्कथमेष स्वरितः प्लुतो भवति? इत्यत आह-अनन्त्यस्येति। यद्यप्यत्र विकल्पो न श्रुतः, तथाप्यनेनापिशब्देनान्त्यस्याप्ययं स्वरितः प्लुतो भवति, ततश्चानुदात्तः प्लुतः पाक्षिकः सम्पद्यते इति भाव इति" पदमञ्जरी।

"यद्यप्यत्र विकल्पो न श्रुतस्तथाप्यपिशब्देनान्त्यस्याप्यनेन स्वरितप्लुतविधानात् पाक्षिकत्वं फलति।" शेखरः।

अनन्त्यस्याऽन्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुत एतयोः। अगमः३ः पूर्वा ३न् ग्रामा३न्। सर्वपदानामयम्। आख्याने–अगम ३ म् पूर्वा३न् ग्रामा३न्।

(२३९) ३६२५ प्लुतावैच इदुतौ। (८-२-१०६) दूराद्धूतादिषु प्लुतो विहितस्तत्रैव ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवाविदुतौ प्लवेते। ऐ३ तिकायन।

पदों की टि का प्लुत स्वरित हो जाता है यदि प्रश्न अथवा आख्यान की प्रतीत हो रही हो तो। यहाँ 'आख्यान' का अर्थ प्रश्न का उत्तर देना है। अतः प्रश्न हो अथवा उसका उत्तर हो तो अनन्त्य तथा अन्त्य सभी पदों की टि का प्लुत स्वरित होता है। यह अर्थ 'अपि' ग्रहण से प्रतीत होता है।

उदा० प्रश्न—अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् ? पूर्ववाले गावों की ओर गये थे? इस सूत्र से वाक्यघटक सभी तीनों पदों की टि का प्लुत स्वरित हो जाता है।

इसमें 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः' (८।२।१०) इस सूत्र से अनुदात्त प्लुत प्राप्त होता है और वह भी केवल वाक्य की टि का, तब यह स्वरित प्लुत कैसे सम्भव होगा? समाधान यह है, यद्यपि विकल्प तो नहीं सुना गया है किन्तु सूत्र में 'अपि' शब्द के ग्रहण के प्रभाव से अनन्त्य भी टि का स्वरित प्लुत हो जाता है। और यह पाक्षिक विधान फलित होता है क्योंकि दोनों सूत्र एक साथ प्रवृत्त नहीं हो सकते। इसीलिये पदमञ्जरीकार ने लिखा है— "प्रश्नेऽप्यपिशब्दस्य तात्पर्यं गम्यते, सहनिर्दिष्टत्वात्, ततश्च प्रश्नान्ते स्वरितानुदात्तयोः प्लुतयोर्विकल्पो भवति।"

आख्यान = प्रश्न का उत्तर—उदा० अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न्। (मैं पूर्व वाले गाँवों की ओर गया था।) यह उत्तर वाक्य है। इसके अन्त्य और अनन्त्य सभी तीनों पदों की टि का प्लुत स्वरित हो जाता है॥२३८॥

दूर से बुलाना आदि अर्थों में प्लुत का विधान 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) आदि सूत्रों के द्वारा किया गया है। उसी प्लुतविधान में ऐच् = ऐ तथा औ इनके प्लुत करने के प्रसङ्ग में उन ऐ तथा औ के अवयवभूत जो इ तथा उ हैं वे ही प्लुत होते हैं। (यह सूत्र बनाया गया है इस कारण इसकी प्रवृत्ति अवयवों में हो रही है। अन्यथा सभी कार्य अवयवों के योग से सिद्ध संयुक्त अक्षर अवयवी में ही होते हैं।)

उदा०—ऐ३तिकायन। औ३पगव। इनमें दूर से आह्वान रहने पर "गुरोऽनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) सूत्र से अनन्त्य भी गुरुसंज्ञक वर्ण का प्लुत होता है ऋकार को छोड़कर। अतः 'ऐ' तथा 'औ' का प्लुत प्राप्त होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्र अच्-समूह ऐ, औ रूप का प्लुत न करा कर केवल अवयवभूत

औ३ पगव। चतुर्मात्रावत्र ऐचौ संपद्येते[1]।

(२४०) ३६२६ एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ। (८-२-१०७) अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्याकारः प्लुतः स्यादुत्तरस्य त्वर्धस्य इदुतौ स्तः[2]।

इ तथा उ का ही प्लुत विधान कर देता है। फलतः 'अ' प्लुत न होकर एकमात्रिक ही रह जाता है। अब 'अ' की एक मात्रा + इ की तीन मात्रायें प्लुत होने से हो जाती है। सभी को मिलाने पर चार मात्राओं वाला 'ऐ३' हो जाता है। इसी प्रकार 'अ' की एक मात्रा तथा 'उ३' की तीन मात्रायें मिलाकर 'औ३' चार मात्राओं वाला हो जाता है। इसी चातुर्मात्रिकत्व का सम्पादन कराने के लिये यह सूत्र है।

अब चतुर्मात्रावाला हो जाने पर इसका अच्त्व कैसे रहेगा? (क्योंकि ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ही अच् होते हैं।) उत्तर में प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में कहा गया है— "इष्यते एव चतुर्मात्रः प्लुतः।' इस पर प्रदीपकार ने लिखा है—"ऊकाल एवाच्' इति नियमो नाश्रीयते, तेन चतुर्मात्रस्याप्यच्कार्यं भवति, 'प्रत्यङ्ङै४तिकायन' इति "ङमो ह्रस्वा' दिति ङमुड् भवति, 'ग्लौ४त्रात' इत्यत्र 'अनचि च' इति तकारस्य द्विर्वचनं भवति॥"२३९॥

दूर से न बुलाने के प्रसङ्ग में अप्रगृह्यसंज्ञक एच् के प्लुत करने के विषय में उस एच् के पूर्व वाले अर्ध भाग का प्लुत 'आ' यह आदेश हो जाता है और उत्तर भाग का जो आधा है उसका लक्ष्यानुसार इत् = इकार या उत् = उकार आदेश हो जाता है अर्थात् संयुक्त अक्षर ए ऐ तथा ओ औ के पूर्व अर्ध भाग का आ होता है। और वही प्लुत भी होता है। शेष अर्धभाग का लक्ष्य के अनुसार इ अथवा उ हो जाता है, यह भाग प्लुत नहीं होता है। इस सूत्र का विषय परिगणित है—

१. **चतुर्मात्राविति।** *ऐचौ समाहारवर्णौ तत्र मात्रा अवर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोः। तत्र ईदूतोः प्लुते कृते तयोस्तिस्रो मात्रा अवर्णस्य चैका मात्रेति समुदायश्चतुर्मात्र इत्यर्थः। नन्वत्रार्धमात्राऽवर्णस्याध्यर्धमात्रेवर्णोवर्णयोरिति मतेऽर्धचतुर्थमात्रावप्यैचौ प्राप्नुतः। सत्यम्, 'चतुर्मात्रः प्लुत इष्यते' इति भाष्यात् समविभाग एवात्राश्रीयत इति भाव इति सुबोधिनी।*

२. *'पूर्वार्धस्य आ' दितिच्छेदः। अत्राऽऽकारः प्लुतः सः प्रश्नान्तेऽनुदात्तः स्वरितो वा, शेषेषूदात्त इति बोध्यम् । इदुतौ 'टेरुदात्तः' इत्यधिकारादुदात्तावेव व्याख्यानादुदात्तग्रहणं प्लुतेनेदुद्भ्यां च सम्बध्यते। प्लुतपदं चात एवाऽऽद्ग्रहणेन सम्बध्यते नेदुद्भ्याम् इति शेखरः।*

*** 'प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्वेव। * प्रश्नान्ते–अगम३: पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ। अभिपूजिते–करोषि पटा ३उ। विचार्यमाणे–होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३ इ। (तै. सं. ६।१।४।५) न होतव्य३मिति। प्रत्यभिवादे–आयुष्मानेधि अग्निभूता३।**

* प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवादन तथा याज्यान्त अर्थ वाले वाक्यों में ही प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त होता है।*

क्रमश: उदा०—प्रश्नान्त—अगम३: पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ।। यहां प्रश्न के अन्त में 'अग्निभूते' यह है। इसके ए का पूर्वभाग 'अ' का प्लुत आदेश हो जाता है और उत्तरभाग इ तथा उ हो जाता है—अग्निभूता३इ। यहाँ 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभि-पूजितयो:' (८।२।१००) सूत्र से प्लुत अनुदात्त होता है अथवा 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयो:' (८।२।१०५) से स्वरित प्लुत होता है। 'वाक्यस्य टे: प्लुत उदात्त:' (८।२।२२) का अधिकार रहने से इ और उ उदात्त हो जाते हैं प्लुत नहीं होते हैं।

उदा०—अभिपूजित—करोषि पटा३उ। यहाँ प्रशंसा है। यहाँ वचनानुसार 'ओ' के पूर्वभाग 'अ' का 'आ' प्लुत आदेश हो जाता है, उत्तर भाग उदात्त 'उ' हो जाता है। यह भी प्रश्नवाक्य है। अत: यहाँ भी 'अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयो:' सूत्र से अनुदात्त प्लुत अथवा 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयो: सूत्र से स्वरित प्लुत होता है। अत: आ३ त्रैमात्रिक और 'उ' एक मात्रिक रहने से चतुर्मात्रिक हो जाता है। इसी प्रकार आ३ + इ भी चातुर्मात्रिक हो जाते हैं।

उदा०—विचार्यमाण—'होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ, न होतव्य३मिति। यहां विचार किया जा रहा है। अत: 'विचार्यमाणानाम्' (८।२।९७) सूत्र से वाक्य की टि का प्लुत होता है। वहाँ पर प्रस्तुत सूत्र एच् के पूर्वभाग का प्लुत 'आ' आदेश कर देता है। शेष का इ उदात्त अथवा उ उदात्त हो जाता है। अत: 'गृहा३इ' ये भी चतुर्मात्रायें हैं।

उदा० प्रत्यभिवाद—आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ। किसी ने अभिवादन किया। उसके उत्तर में गुरु आदि के द्वारा उक्त वाक्य कहा जाता है—प्रत्यभिवाद। यहाँ पर 'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (८।२।८३) सूत्र से टि को प्लुत किया जाता है किन्तु ऐच् होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से 'ए' के पूर्वभाग अ का प्लुत उदात्त 'आ' आदेश होता है उत्तर भाग का 'इ' हो जाता है। 'इ' भी उदात्त रहता है।

१. *परिगणनवार्तिकमिदम्।।*

याज्यान्ते–स्तौमैर्विधेमाग्नया३ इ। (ऋ.८।४३।११)

परिगणनं किम्–विष्णुभूते३ घातयिष्यामि त्वाम्।

अदूराद्धूत इति न वक्तव्यम्। पदान्तग्रहणं तु कर्तव्यम्। इह मा भूत्–भद्रं करोषि गौरिति। अप्रगृह्यस्य किम्–शोभने माले३।

उदा०—याज्यान्त—याज्याकाण्ड में पठित मन्त्रों के अन्त में जो है वह याज्यान्त है। उसमें एच् के पूर्वभाग का 'आ' और उत्तरभाग का 'इ' अथवा 'उ' हो जाता है। 'स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ। यहाँ 'अग्नये' के ए के पूर्व भाग का आ३प्लुत उदात्त हो जाता है शेष उत्तरभाग इ उदात्त होता है।

यहाँ पर काशिकाकार की व्यवस्था महत्त्वपूर्ण है—"सोऽयमाकार: प्लुतो यथाविषयमुदात्त:, अनुदात्त: स्वरितो वा वेदितव्य:। इदुतौ पुनरुदात्तावेव भवत:।"

भाष्यकार या वार्तिककार द्वारा किये गये परिगणन का क्या फल है? विष्णुभूते घातयिष्यामि त्वाम्। अरे विष्णुभूति! तुम्हें मार डालूँगा। यह वाक्य परिगणितों में नहीं आता है। अत: प्रस्तुत सूत्र इसमें प्रवृत्त नहीं होता है। यहां सामान्य नियमानुसार सम्बोधन प्लुत होता है।

वास्तव में परिगणन के कारण इस सूत्र में 'अदूराद्धूते' यह वचन कहने की आवश्यकता नहीं रहती है। (कारण यह है कि परिगणन में जो हैं वे सभी दूर से आह्वान के विषय में ही हैं। अत: अदूर के लिये नियम बनाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अत: सरलता-बोधार्थ ही सूत्र में 'अदूराद्धूते' है अन्यथा कोई स्पष्ट आवश्यकता नहीं दिखाई देती है।)

पदान्तग्रहण तो करना ही होगा अर्थात् पद के अन्त में विद्यमान एच् में ही यह सूत्र प्रवृत्त होता है यह कहना ही होगा। इसका फल है—इस में न होना—भद्रं करोषि गौ:।(यहाँ एच् तो है किन्तु पद के अन्त में नहीं है पद के अन्त में तो 'गो + सु' का आदेशभूत् विसर्ग है। साथ ही 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।१७) में सर्वनामस्थानभिन्न का ग्रहण होने से 'ओ' पदान्त नहीं माना जा सकता। अत: सूत्र में पदान्त को एच् का विशेषण बनाना आवश्यक है।

प्रगृह्य से भिन्न का—इसका क्या फल है—शोभने माले३। यहाँ यद्यपि अभिपूजित अर्थ है किन्तु 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (१।१।११) सूत्र से ए प्रगृह्यसंज्ञक हो जाता है। अत: प्रस्तुत सूत्र लागू नहीं होता है। सामान्य नियम से वाक्य की टि का प्लुत होने से ए त्रैमात्रिक हो जाता है।

*** आमन्त्रिते छन्दसि 'प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः।* अग्ना३इ पत्नी व३ः।** (वा.सं. ८।१०)

(२४१) ३६२७ तयोर्य्वावचि संहितायाम्' (८-२-१०८)

इदुतोर्यकारवकारौ स्तोऽचि संहितायाम्। अग्ना३ याशा। पटा३ वाशा।

---

*"यह प्लुतरूप विकार वेद में केवल आमन्त्रित = सम्बोधन एकवचन में ही कहना चाहिये। *

उदा०—अग्ना३इ पत्नी व३ः। यहाँ 'अग्ने' यह आमन्त्रित है और अभिपूजित अर्थ है। अतः 'ए' के पूर्वभाग का प्लुत उदात्त 'आ३' आदेश और उत्तरभाग का 'इ' उदात्तमात्र आदेश होता है। 'व३ः' यहाँ वाक्य का टि है अतः प्लुत उदात्त हो जाता है।

यहाँ ध्यान देना आवश्यक है कि अधिकांश पुस्तकों में ह्रस्व अकार जैसे—'अग्निभूत३इ' आदि प्रकाशित है, वह प्रमादग्रस्त है क्योंकि जब प्रस्तुत सूत्र ने स्पष्ट रूप में पूर्वभाग का 'आ३' यह प्लुत त्रैमात्रिक विधान किया है। तब ह्रस्व 'अ३' को प्लुतकर के लिखना शुद्ध नहीं माना जा सकता। इस सन्दर्भ में खेमराज प्रेस की सिद्धान्तकौमुदी तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय से प्रकाशित काशिकावृत्ति में प्रस्तुत सूत्र के उदाहरण द्रष्टव्य हैं॥२४०॥

उन अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र द्वारा विहित इकार तथा उकार के स्थान पर अच् परे रहते क्रमशः यकार और वकार आदेश हो जाते हैं संहिता के विषय में।

---

१. *प्लुतश्चासौ विकारश्चेति प्लुतविकारः। प्लुतव्यपदेशस्त्विदितोः प्लुतसाहचर्याद् वेदितव्यः। इदुतोर्ग्रहणमैचः पूर्वस्योत्तरस्य चैते आदेशा मा भूवन्नित्येवमर्थम्। तपरकरणमिहापि मुखसुखार्थम्।।इति न्यासः।*

२. **तयोर्व्वा।** *नन्विदं व्यर्थम् 'इको यणचि' इत्यनेनैव सिद्धमत आह—***इदुतोरसिद्धत्वादिति।** *ननु सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु, कथं ज्ञायते? 'प्लुतप्रगृह्या अचि—' इति प्रकृतिभावविधानात्। यस्य हि विकारः प्राप्तस्तस्य प्रकृतिभावो विधेयः, 'प्लुतस्यासिद्धत्वेन तस्य स्वरसन्ध्याख्यो विकारः प्राप्नोति। अस्तु प्लुतः सिद्धः। किमायातमिदुतोः? उच्यते। प्लुतकरणे यत्कार्यं तत्स्वरसन्धिषु सिद्धमिति सामान्येन ज्ञापकमाश्रयिष्यते, ततश्चेदुतोरपि सिद्धत्वात्सिद्ध एव यणादेशोऽत आह-***सवर्णदीर्घत्वस्येति।** *यदीदं नोच्यते अग्न ३ इ इन्द्रम्, पट ३ उ उदकमित्यत्र षाष्ठिकं यणादेशं बाधित्वा सवर्णदीर्घः स्यात्। अग्न ३ याशेत्यादौ च 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य—' इति प्रकृतिभावः स्यात्तद्बाधनार्थमिदं वक्तव्यमेव।*

अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३ वुदकम्। अचि किम्? अग्ना३ इ वरुणौ। संहितायां किम्–अग्ना३ इ, इन्द्रम्।

उदा०—अग्ना३याशा। पटा३वाशा। अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३वुदकम्। इनमें क्रमशः अग्ने + आशा, पटो + आशा, अग्ने +इन्द्रम्, पटो + उदकम्—ऐसी सन्धि = संहिता है। अन्य अपेक्षित पदों का आक्षेप करके प्रश्नान्त आदि की प्रतीति कराकर पूर्ववर्ती 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते'' (८।२।१०७) सूत्र से ए तथा ओ का प्लुत करने के प्रसङ्ग में ए तथा ओ के पूर्व भाग का प्लुत 'आ३' आदेश हो जाता है और उत्तरभाग का इ तथा उ आदेश हो जाता है। इन्हीं इ तथा उ के स्थान पर क्रमशः य् और व् आदेश प्रस्तुत सूत्र से कर दिये जाते हैं—अग्ना३इ + आशा = अग्ना३याशा। पटा३उ + आशा = पटा३वाशा। अग्ना३इ + इन्द्रम् = अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३उ + उदकम् = पटा३वुदकम्।

अच् परे रहते ही ये आदेश होते हैं—इसका क्या फल है? अग्ना३इ वरुणौ। यहाँ 'अग्ने + वरुणौ है। इसमें पूर्वसूत्र से पूर्वभाग का प्लुत आ३ तथा उत्तर भाग का इ आदेश तो हो जाता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र से 'इ' का 'य्' नहीं होता है क्योंकि अच् परे नहीं है, 'व' परे है।

---

*ननु च तन्निवृत्तये यत्नान्तरमस्ति, किं पुनस्तत्प्लुतस्य यणादेशो वक्तव्यः सवर्णदीर्घनिवृत्त्यर्थः शाकलनिवृत्त्यर्थश्च? तच्चावश्यं वक्तव्यं य इक् प्लुतपूर्वः न च प्लुतविकारः भो इ इन्द्रं भो इ यिन्द्रं गायतीति भोशब्दस्य छान्दसः प्लुतः, ततः परस्यैकारस्य निपातत्वात् प्रकृतिभावे प्राप्ते तं बाधित्वा यणादेशः। तदेव तस्यावश्यंकर्तव्यत्वेनैव यणा सिद्धेऽत आह—***यवयोरिति।** *तथा चोक्तं वृत्तिकृता—*

'किं तु यणा भवतीह न सिद्धे य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति।
तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्यौ॥
इक्च यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौ यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः'।

अयमर्थः। *'इको यणचि' इति यणादेशेन किं रूपं प्रसिध्यति यतोऽयमाचार्यः इदुतोर्य्वौ विदधाति तौ चेदुतौ स्वरसन्धिषु सिद्धौ। ममेति सूत्रकारेणैकीभूतस्य वचनम्। एवं चोदिते परिहरति—शाकलदीर्घविधी तु निवर्त्याविति। शाकलस्येदं शाकलं 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' इत्यण्। पुनश्चोदयति—इक्च यदेति। वार्तिककारोऽपि इकः प्लुतपूर्वस्य यणं विदधाति। स च प्रकृतिभावस्यैव शाकलदीर्घविध्योरप्यपवादः। ततश्च तेनैव यणा एतयोरपि इदुतोः शाकल दीर्घौ न* [illegible]
इति नार्थ एतेन? परिहरति। [illegible]

'संहितायामित्यध्यायसमाप्तेरधिकारः। इदुतोरसिद्धत्वादयमारम्भः सवर्णदीर्घत्वस्य (६।१।९७।८५) शाकल्यस्य (६।१।१२७।९१) च

संहिता का विषय रहने पर —इस कथन का क्या फल है? 'अग्ना३इ, इन्द्रम्' इसमें अग्ना३इ तथा इन्द्रम् में संहिता नहीं है। क्योंकि 'परः सन्निकर्षः संहिता (१।४।१०९) सूत्रानुसार ही संहिता हो सकती है। यदि विलम्बेन उच्चारण किया जाता है तो संहिता नहीं मानी जाती है। यहाँ यही स्थिति है। अतः संहिता का विषय न होने से प्रस्तुत सूत्र नहीं प्रवृत्त होता है। केवल पूर्ववर्ती सूत्र से 'अग्ने' के पूर्वभाग का प्लुत आ३ तथा उत्तर भाग का इ आदेश होता है—अग्ना३इ।

'संहितायाम्' 'संहिता के विषय में'—यह अधिकार अष्टम अध्याय की समाप्ति पर्यन्त 'अ अ' (९।४।६७) इस अन्तिम सूत्र तक रहता है। अतः वक्ष्यमाण सभी सूत्र संहिताविषय में ही प्रवृत्त होते हैं—ऐसा समझना चाहिये। इत् उत् आदेशों के असिद्ध हो जाने के कारण सवर्णदीर्घ तथा शाकल्यमत में ह्रस्वनिवृत्ति के लिये प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है। अथवा य् व् के असिद्ध हो जाने से 'उदात्तस्वरितयोः' इस सूत्र से अनुदात्त का स्वरित बाधित करने के लिये प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है।

उपर्युक्त का भाव यह है कि यहाँ यह शंका हो सकती है कि इ तथा उ के स्थान पर अच् परे रहते य् तथा व् आदेश करने की क्या आवश्यकता क्योंकि ये आदेश तो 'इको यणचि' (६।१।७७) इसी सूत्र से हो सकते हैं? इसका समाधान यह है कि 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते' (८।२।१०७) इस सूत्र से एच् के पूर्वभाग का 'आ' तथा उत्तरभाग के इ तथा उ आदेश जो किये जा रहे हैं वे आदेश 'इको यणचि' (६।१।७७) की दृष्टि में असिद्ध हो जाते हैं। इसका कारण है 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) यह सूत्र। यह सपादसप्ताध्यायीस्थित सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादीस्थ सूत्रों को अथवा उनके द्वारा विहित कार्य को ही असिद्ध कर देता है। अतः 'इको यणचि' की दृष्टि में ये इकार या उकार रहते ही नहीं है। अतः इनके स्थान पर यकार तथा वकार आदेश करने के लिये 'तयोर्य्वावचि संहितायाम्' यह प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है।

(यदि कहा जाय कि स्वरसन्धियों में प्लुत आदेश सिद्ध ही रहता है, क्योंकि इस प्लुत को मानकर ही 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२५) इस सूत्र से प्रकृतिभाव का विधान किया गया है। यह प्रकृतिभाव तभी सम्भव होगा जब प्लुत सिद्ध रहेगा। अतः इसी आधार पर सभी अच्सम्बन्धी कार्यों में प्लुत सिद्ध रहता है। अतः यण् करके भी इ तथा उ का यकार तथा वकार आदेश सम्भव है। अतः इस

निवृत्त्यर्थः। यवयोरसिद्धत्वाद् 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४।३६५७) इत्यस्य बाधनार्थो वा।

सूत्र का वैयर्थ्य बना ही रहता है। इस का समाधान यह है—) अग्ना३इ + इन्द्रम्, पटा३उ + उदकम् यहाँ यणादेश का बाध कर के 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६।१।१०१) सूत्र से प्राप्त होने वाले सवर्णदीर्घ को रोकने के लिये यकार तथा वकार आदेश किये गये हैं।

दूसरी बात यह भी है कि—अग्नये आशा = अग्ना३ इ + आशा, पटो आशा = पटा३उ + आशा आदि में 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (६।१।१२७) सूत्र से प्रकृतिभाव भी प्राप्त होता है, वह न हो सके, इसके लिये भी प्रस्तुत सूत्र से इ तथा उ का यकार तथा वकार आदेश किया गया है।

अन्तिम प्रयोजन यह भी है कि अग्ना३इ + आशा, पटा३ उ + उदकम्— आदि में यदि यण् आदेश किया जायगा तो वह यण् उदात्त के स्थान पर अथवा स्वरित के स्थान पर होगा। उसका परिणाम यह होगा कि 'उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य' (८।२।४) इससे उस यण् से परे अनुदात्त का स्वरित हो जाना है। यह स्वरित न हो सके, इसके लिये भी ये यकार, वकार आदेश किये गये हैं। कारण यह है कि प्रस्तुत सूत्र ८।२।१०८ है और स्वरित विधायक ८।२।४ है। दोनों त्रिपादी में है अतः पूर्व की दृष्टि में पर असिद्ध रहता है। अतः ये बाद वाले सूत्र द्वारा विहित आदेश स्वरितविधायक पूर्ववर्ती सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हो जाते हैं। यदि ये आदेश न करके यण् किया जाता है तो यण् से परे अनुदात्त का स्वरित होने लगेगा, उसका बाध करने के लिये प्रस्तुत सूत्र है।

निष्कर्ष यह है कि इस सूत्र को बनाने के ये तीन प्रयोजन हैं—१. सवर्णदीर्घत्व का वारण, २. प्रकृतिभाव का वारण तथा ३. अनुदात्त के स्वरितत्वविधान का वारण। इनमें अन्तिम प्रयोजन ही वास्तविक है।

इस विषय में महाभाष्य में निम्न कारिकायें हैं जिन्हें काशिकावृत्ति में भी उद्धृत किया गया है—

किन्तु यणा भवतीह न सिद्धं य्वाविदुतोर्यदयं विदधाति?
तौ च मम स्वरसन्धिषु सिद्धौ शाकल-दीर्घविधी तु निवर्त्यौ।
इक् तु यदा भवति प्लुतपूर्वस्तस्य यणं विदधात्यपवादम्।
तेन तयोश्च न शाकलदीर्घौ यण्स्वरबाधनमेव तु हेतुः॥ (म.भा. ८।२।१०८)

॥२४१॥ (देखें पूर्ववर्ती पृष्ठों की संस्कृत टि०)

(२४२) ३६२८ मतु'वसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि। (८-३-१) रु इत्यविभक्तिको निर्देशः। मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च रुः स्यात्। 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२।४२) इति परिभाषया नकारस्य। इन्द्रं मरुत्व इह पाहि सोमम्। (तै. सं. ४।१।१८।१) हरिवो मेदिनं त्वा। (तै.सं.४।७।१४।४) 'छन्दसीरः' (८।२।१५।३६००) इति वत्वम्।

प्रस्तुत सूत्र में 'रु' यह विना विभक्ति वाला है। मतुप् तथा वसु ये प्रत्यय होने से तदन्तविधि होती है। अतः मत्वन्त तथा वस्वन्त पद का रु यह आदेश हो जाता है सम्बुद्धि = सम्बोधन एकवचन का कोई शब्द परे रहते वेदविषय में।यद्यपि पद का यह रु कहा गया है किन्तु षष्ठीनिर्दिष्ट होने के कारण 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) इस परिभाषा सूत्र के कारण अन्तिम अल् वर्ण अर्थात् न् के स्थान पर 'रु' यह आदेश होता है।

उदा० मत्वन्त—'इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम्।'

मरुतः अस्य सन्ति—इस विग्रह में मरुत् शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४) सूत्र से मतुप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप 'झयः' सूत्र से म् का व्—मरुत् वत्। प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमैकवचन सम्बोधन में सु विभक्ति, ठगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) सूत्र से नुम् = न् आगम, हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप कर देने के बाद—मरुत्वन् बचता है। सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान में ही उपधादीर्घ होता है। अतः उपधादीर्घ नहीं होता है। मरुत्वन् + इह—इसमें प्रस्तुत सूत्र से 'न्' का रु आदेश होता है, इस रु के स्थान पर 'भोभगो-अघोअपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) सूत्र से य् आदेश हो जाता है। इस य् का लोप 'लोपः शाकल्यस्य सूत्र से होता है—मरुत्व इह। मरुत् वत् में 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) सूत्र से भसंज्ञा हो जाने से पदसंज्ञा का बाध हो जाता है अतः त् का जश्त्व द् नहीं होता है।

मत्वन्त का दूसरा उदा०—'हरिवो मेदिनं त्वा।' यहाँ 'हरयः सन्ति अस्य' इस विग्रह में 'हरि' शब्द से मतुप् प्रत्यय—हरिमत्। 'छन्दसीरः' (८।२।१५) सूत्र से म् का व्—हरिवत्। सम्बोधन एकवचन में सु, नुम् करने के बाद हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप करने पर हरिवन् बचता है। इसके न् का रु प्रस्तुत सूत्र से हो जाता

१. 'संहितायां' (३।२।१०८) मिति अनुवर्तते।

(२४३) ३६२९ दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च'। (६।१।१२) एते क्वस्वन्ता निपात्यन्ते। मीढ्'वस्तोकाय तनयाय (ऋ.२।३३।१४)

है—हरिवरु + मेदिनम्—इस दशा में 'हशि च' (६।१।११४) सूत्र से रु का उत्व, अ + उ का 'आद्गुणः' (६।१।८७) से गुण कर देने पर—'हरिवो मेदिनं त्वा' बन जाता है।

वस्वन्त का उदाहरण अग्रिम सूत्र में दिया गया है। अतः प्रसङ्गवश वह अग्रिम सूत्र उद्धृत किया गया है॥२४३॥

दाश्वान्, साह्वान् तथा मीढ्वान्—ये तीन शब्द क्वस्वन्त निपातित होते हैं।

क्वसु में क् और उ अनुबन्ध हैं। अतः वस्वन्त के उदाहरण के रूप में इसको ले लिया गया है—(१) "मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड।" 'मिह सेचने' धातु से लिट् लकार, उसके स्थान पर 'क्वसुश्च' (३।२।१०७) सूत्र से क्वसु = वस् आदेश—मिह् + वस्। यद्यपि इसमें 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (६।१।८) सूत्र से धातु का द्वित्व प्राप्त है किन्तु वर्तमान सूत्र द्वारा द्वित्वरहित रूप ही निपातित किया जाता है। इसी प्रकार 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (७।२।६७) सूत्र से प्राप्त इट् का अभाव भी निपातित होता है। द्वित्व का अभाव, इट् का अभाव तो निपातित होता ही है साथ ही साथ धातु की उपधा का दीर्घत्व भी निपातित होता है। मीह् +वस्। इसी सूत्र से निपातन से ह् का ढ् मीढ्वस्, प्रातिपदिक संज्ञा, सु 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (७।१।७०) सूत्र से नुम् = न् का आगम, 'अत्वसन्तस्य चाधातोः (६।४।१४) सूत्र से उपधादीर्घ—मीढ्वान्स् + सु, हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्तलोप के बाद—मीढ्वान्। सम्बोधन एकवचन में उपधादीर्घ नहीं होता है और प्रस्तुत सूत्र से 'न्' का

१. प्रसङ्गादाह—दाश्वानिति। दाशेः क्वसावद्वित्वमनिट्त्वञ्च निपात्यते। 'षह मर्षणे' इत्यस्य परस्मैपदं क्वसुरद्वित्वमनिट्त्वमुपधादीर्घत्वं च निपात्यते। 'मिह सेचने' इत्यस्मात्क्वसावद्वित्वमनिट्त्वं च निपात्यते। सूत्रे एकवचनमतन्त्रम्। 'दाश्वांसः', 'दाशुषः सुत'मिति प्रयोगदर्शनात्। यद्यपीदं लोकवेदसाधारणं तथापि लोके प्रयोगप्राचुर्याऽभावादत्रैवोदाहृतम्। इति शेखरः।

अत्र मूलं तु काशिकादिः—"दाश्वान् साह्वान् मीढ्वान्—इत्येते शब्दाः छन्दसि भाषायां चाविशेषेण निपात्यन्ते।"

२. 'मिह सेचने' इत्यस्याद्वित्वम्, अनिट्त्वम् उपधादीर्घत्वं ढत्वं च निपातनात्। 'हो ढः' इति तु न प्रवर्तते, पदान्ते झलि चैव तत्प्रवृत्तेरिति बोध्यम्।

* 'वन उपसंख्यानम् * क्वनिब्वनिपोः सामान्यग्रहणम्। अनुबन्ध-परिभाषा तु नोपतिष्ठते। अनुबन्धस्येहानिर्देशात्। यस्त्वायान्तं वसुना प्रातरित्वः। (ऋ.१।११५।२) इणः क्वनिप्।

रु, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) सूत्र से रु का विसर्ग—मीढ्वः। तोकाय के साथ सन्धि होने से 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) सूत्र से विसर्ग का स् करने पर—मीढ्वस्तोकाय। इसमें 'हो ढः' (८।२।३१) सूत्र से ह् का ढ् आदेश लिखना प्रामादिक है क्योंकि 'हो ढः' सूत्र झल् परे अथवा पदान्त में ही प्रवृत्त होता है। ये दोनों 'मीह् वस्' में नहीं है। अतः ढत्व भी निपातन से ही समझना चाहिये।

२. दाशृ दाने' लिट् = क्वसु, द्वित्व तथा इट् का अभाव, प्रातिपदिककार्य नुम्, उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप—दाश्वान्।

३. साह्वान्—'षह मर्षणे' इस भौवादिक धातु से परस्मैपद निपतित होता है। सह् लिट् = वस्, द्वित्व का अभाव, उपधादीर्घ—साह्वस्, इडभाव, प्रातिपदिकत्वात् सु आदि कार्य, नुम्, उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप; संयोगान्तलोप—साह्वान्।

* 'मतुवसोः रु'[1] (८।३।१) सूत्र में वन् का भी उपसंख्यान करना चाहिये अर्थात् वन् के न् का भी रु आदेश कहना चाहिये। *

इसमें वन् से क्वनिप् तथा वनिप् इन दोनों के अवशिष्ट वन् का ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि अनुबन्धविशिष्ट का ग्रहण रहने पर अनुबन्धरहित का अथवा उससे भिन्न अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं हो सकता—'निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्' 'तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्'— ये परिभाषायें हैं। तब क्वनिप् और वनिप् का ग्रहण कैसे होगा? समाधान यह है कि इस वार्तिक में किसी अनुबन्धविशेष का उल्लेख नहीं है, सामान्य रूप से 'वन्' कहा गया है। अतः दोनों का ग्रहण किया जा सकता है।

क्वनिप् = वन् का उदा० 'यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वः।' प्रातः एति—इस विग्रह में 'प्रातर्' उपपद इण् धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (३।२।७५) सूत्र से क्वनिप् = वन् प्रत्यय—इ वन्, कित् होने से गुणनिषेध, पित् कृत् होने से 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (६।१।७१) सूत्र से तुक् = त् आगम—प्रातिरित्वन्। प्रातिपदिक संज्ञा, सु उसका हल्ङ्यादिलोप, प्रस्तुत सूत्र से न् का रु, उसका विसर्ग—प्रातरित्वः॥२४३॥

१. भाष्ये काशिकायां च 'मतुवसो रु' (८।३।१) इति सूत्रे वार्तिकमिदं पठितम्।

(२४४) ३६३० उभयथर्क्षु[1]। (८-३-८) अम्परे छवि नकारस्य रुर्वा। पशूँस्तांश्चक्रे। (ऋ.१०।९०।८)

अम्परक छव् परे रहते नकारान्त पद का उभयथा = दोनों प्रकार से होता है अर्थात् न् का रु भी होता है और नहीं भी होता है, फलतः विकल्प होता है ऋचाओं = संहिताओं में। ('नश्छव्यप्रशान्' (८।३।७) से न् का रु नित्य प्राप्त है। उसका यह विकल्प कर देता है।)

इसमें अम् तथा छव् ये दो प्रत्याहार है। प्रथम में 'अइउण्' के अ से लेकर 'ञमङणनम्' के म् तक के वर्ण आते हैं। छव्—में 'खफछठथचटतव्' सूत्र के छ् से लेकर व् तक—छठथतटत (= च छ, ट ठ, त थ') आते हैं। यदि इस छव् के किसी वर्ण के बद अम् प्रत्याहार का कोई वर्ण रहता है तो वह—अम्परक छव् होता है, उसके परे रहने पर नकार का रु आदेश विकल्प से होता है। लोक में यह नित्य है वेद में वैकल्पिक है।

उदा०—पशूँस्तांश्चके। पशन् + तान् +चक्रे। अम्परक छव् हैं—'ता' और 'च' अतः दोनों के न् का रु होता है। अतः पशूरु + तारु + चक्रे। इसमें प्रथम सन्धि में 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) सूत्र से रु से पूर्व का अनुनासिक होता है विकल्प से—पशूँरु + तान्। रु का विसर्ग 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) सूत्र से और 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) सूत्र से विसर्ग का सत्त्व कर देने पर १. पशूँस्तांश्चक्रे। यह अनुनासिक वैकल्पिक है। अतः पक्ष में 'अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः' (८।३।४) सूत्र से अनुस्वार वाला रूप होता है। २. पशूंस्ताँश्चक्रे। यह रु आदेश भी वैकल्पिक है अतः रु न होने पर न् वाला रूप भी हो सकता है वेद में ३. पशून् तांश्चक्रे।

तान् + चक्रे यहाँ भी न् का रु विकल्प से होने पर तारु + चक्रे। पूर्ववत् वैकल्पिक अनुनासिक ताँरु +चक्रे (८।३।३४) रु का विसर्ग करने के बाद 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से स् और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) सूत्र से स् का श् श्चुत्व करने पर ताँश्चक्रे। पक्ष में अनुस्वार होने पर—तांश्चक्रे रूप होता है। रु न होने पर—तान् चक्रे।

१. 'नश्छव्यप्रशान् ' (८।३।७) इत्यतः 'नः' इत्यनुवर्तते। दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य रुः भवति अटि परतः, तौ चेत् निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः। 'उभयथर्क्षु' इत्यतः 'ऋक्षु' इति प्रकृतत्वात् ऋक्पाद एवेह गृह्यते। समानशब्दः एकपर्यायः।

(२४५) ३६३१ दीर्घादटि समानपादे। (८-३-९) दीर्घान्नकारस्य रुर्वा स्यादटि तौ चेन्नाटौ एकपादस्थौ स्याताम्। देवाँ अच्छा सुमती। महाँ इन्द्रो य ओजसा। (ऋ८।६।१) उभयथेत्यनुवृत्तेर्नेह—आदित्यान्याचिषामहे।

यह सूत्र ऋक् में ही प्रवृत्त होता है। और ऋक् का स्वरूप है—'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी. सू. २।१।३५)। अतः ऋक् से अन्यत्र इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है।

दीक्षित जी ने यहाँ सम्मिलित उदाहरण देकर जटिलता उत्पन्न कर दी है। काशिकाकार ने एक ही उदाहरण दिया है—१. तस्मिँस्त्वा दधाति। २. तस्मिंस्त्वा दधाति। न् का रु न होने पर—३. तस्मिन् त्वा दधाति।।२४४।।

दीर्घ वर्ण से परे न् का रु होता है विकल्प से अट्परे रहते, यदि वे न् तथा अट् दोनों ही समानपाद = एक ही पाद में स्थित हों।

उदा० 'देवाँ अच्छा सुमती।' देवान् + अच्छा—इसमें दीर्घ से परे न् है और न् के बाद अट् प्रत्याहार का वर्ण अ है अतः न् का विकल्प से रु आदेश हो जाता है—देवारु +अच्छा। अब आगे वक्ष्यमाण सूत्र 'आतोऽटि नित्यम्' (८।३।३) से नित्य अनुनासिक होता है रु से पूर्व का आ—देवाँरु + अच्छा, 'भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७) सूत्र से रु का य् आदेश और उसका लोप 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र से कर देने पर—'देवाँ अच्छा' ऐसा बनता है। जब रु नहीं होता है तब न् वाला रूप ही रहता है—देवान् अच्छा।

'महाँ इन्द्रो य ओजसा।' महान् + इन्द्रः—इस में भी न् का रु विकल्प से—महारु + इन्द्रः, नित्य अनुनासिक आँ, रु का य् और उसका वैकल्पिक लोप करने पर—महाँ इन्द्रः। रु न होने पर २. महान् इन्द्रः। य् का लोप न होने पर ३. महाँय् इन्द्रः यह तीसरा रूप भी सम्भव है। लोक में अनुनासिक वैकल्पिक है। अतः चार प्रकार के रूप संभव हैं।

इस सूत्र में भी 'उभयथा' इसकी अनुवृत्ति होती है। अतः 'न्' का रु नहीं भी होता है—आदित्यान् + याचिषामहे। न् ही रहता है रु नहीं होता है।।२४५।।

(२४६) ३६३२ [1]आतोऽटि नित्यम्। (८-३-३) अटि परतो रोः पूर्वस्यातः स्थाने नित्यमनुनासिकः। महाँ इन्द्रः। (ऋ८।६।१) तैत्तिरीयास्तु अनुस्वारमधीयते। तत्र छान्दसो व्यत्यय इति प्राञ्चः। [2]एवं च सूत्रस्य फलं चिन्त्यम्।

वेदविषय में अट् प्रत्याहार का कोई वर्ण परे रहते पर रु से पूर्ववर्ती आ का नित्य अनुनासिक आदेश होता है। यह 'अत्रानुनासिकः' (८।२।२) सूत्र का अपवाद सूत्र है।

उदा०—'महाँ इन्द्रः।' महान् + इन्द्रः इसमें पूर्वसूत्र 'दीर्घादटि समानपादे' (८।३।९) से न् का रु होता है विकल्प से। रुपक्ष में प्रस्तुत सूत्र रु से पूर्वका नित्य अनुनासिक कर देता है—महाँ रु + इन्द्रः, 'भोभगो-अघोऽपूर्वस्य योऽशि' (८।३।१७) सूत्र से रु का य् आदेश और 'लोपः शाकल्यस्य' (८।३।१९) सूत्र से य् का वैकल्पिक लोप—१. महाँ इन्द्रः। न् का रु न होने पर—२. महान् इन्द्रः। रुत्वपक्ष में य् लोप वैकल्पिक होने से लोपाभाव में—महाँय् इन्द्रः भी सम्भव है।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र के विषय में विचारणीय यह है कि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखानुयायी तो अनुनासिक वाला नहीं अपितु अनुस्वार वाला रूप ही पढ़ते हैं। उनके लिये समाधान वचन है—यह छान्दसव्यत्यय है अर्थात् अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का भी पाठ हो सकता है वेदविषय में। यदि ऐसा है तो फिर इस सूत्र का कोई फलविशेष नहीं रह जाता है। क्योंकि नित्य अनुनासिक करने के लिये ही यह सूत्र है। यदि इसके विषय में भी विकल्प माना जाता है तब तो वह सामांन्यसूत्र 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (८।३।२) इसी से वैकल्पिक अनुनासिक और अनुनासिकाभाव में अनुस्वार सिद्ध ही है। इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है क्योंकि सूत्र मानने पर व्यत्यय भी मानना पड़ता है।।२४६।।

---

१. 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा'। (८।३।२) इत्यतः 'अनुनासिक' इत्यनुवर्त्तते। उदाहरणेषु योऽकारस्तस्मिन्नटि परतो 'दीर्घादटि समानपादे' इति नकारस्य रुत्वे कृते तस्मात् पूर्वस्याकारस्यानेन नित्यमनुनासिकत्वम् इति न्यासः।

२. **महाँ इन्द्र इति।** 'दीर्घादटि' इति रुत्वम्। **एवञ्चेति।** सर्वविकल्पानां छन्दसि व्यवस्थिततया प्रकृतसूत्रत्यागे महल्लाघवम्। सूत्रारम्भे तु व्यत्ययः शरणीकर्तव्य इति महान् क्लेश इति भावः।। इति शेखरः।

(२४७) ३६३३ **'स्वतवान्पायौ (८-३-११)** रुर्वा। भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ.४।२।६)

(२४८) ३६३४ **छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः**[1]। (८-३-४९) विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः प्रशब्दमाम्रेडितं च वर्जयित्वा। अग्नें त्रातर्ऋतस्कविः। (ऋ.८।६०।१) गिरिर्न विश्वतस्पृथुः। (ऋ.८।९८।४) नेह, वसुनः

'पायु' शब्द परे रहते, 'स्वतवान्' इस शब्द के न् का 'रु' आदेश विकल्प से हो जाता है।

उदा०—'भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने' 'तु वृद्धौ' यह सौत्र ('तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' ७।३।९५) सूत्र में पठित धातु है। इससे औणादिक असुन् = अस् प्रत्यय—तु + अस्, उ का गुण ओ का अव् आदेश—तवः। स्वं तवः यस्यासौ—इस विग्रह में 'स्वतवान्' निष्पन्न होता है। स्वतवस् + सु 'दृक्स्ववःस्वतसां छन्दसि' (७।१।८३) सूत्र से नुम् आगम—स्वतवन्स् + सु, उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप करने पर स्वतवान् बनता है। 'पायु' शब्द परे है अतः न् का 'रु' आदेश, रु से पूर्व का अनुनासिक, रु का अनुबन्धलोप, र् का विसर्ग कर देने पर 'स्वतवाँः पायुः' बन जाता है। रुत्व वैकल्पिक है अतः न् वाला रूप भी रह सकता है—स्वतवान् पायुः॥२४७॥

वेदविषय में कवर्ग और पवर्ग परे रहते विसर्ग का स् विकल्प से हो जाता है प्रशब्द और आम्रेडित को परे छोड़कर अर्थात् इन दो के परे रहते स् आदेश नहीं होता है।

उदा०—'अग्ने त्रातर्ऋतस्कविः।' यहाँ ऋतः + कविः है। प्रस्तुत सूत्र से विसर्ग का स् हो जाता है।

'गिरिर्न विश्वतः + पृथुः'—इसमें भी विसर्ग का स् होने से—'विश्वतस्पृथुः' रूप बनता है।

१. 'स्वतवान् ' इति षष्ठ्यर्थे प्रथमा, यद्वा-'सुपां सुलुक्' इति विभक्तिलोपः॥

२. 'विसर्जनीयस्य स' (८।३।३४) इत्यनुवर्तते। शेखरकारादयस्तु अस्य एतादृशाग्रिम-सूत्राणां च स्पष्टार्थमात्रमेव फलमाहुः—"'छन्दसि वा' इति व्यवस्थित-विकल्पेनैव सिद्धे 'वाप्रेत्यादि स्पष्टार्थम्, एवमुत्तरसूत्राण्यपि।" इति लघु. श. शेखरः।

पूर्व्यस्पतिः। (ऋ.१०।४८।१) अप्रेत्यादि किम्–अग्निः प्र विद्वान्। (अथर्व. ५।२६।१) पुरुषः पुरुषः (मै. सं २।७।१५।२१४)

(२४९) ३६३५ **कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः**[1]। (८-३-५०) विसर्गस्य सः स्यात्[2]। प्रदिवो अपस्कः। यथा नोवस्यसस्करत्।

सत्ववैकल्पिक होने से विसर्ग के स् न होने का उदा० 'वसुनः पूर्व्यः पतिः।' इसमें पवर्ग परे विसर्ग का स् नहीं भी हुआ है।

प्र शब्द तथा आमेडित को छोड़कर—इसका क्या फल है? अग्निः प्रविद्वान्। यहाँ प्र परे है अतः विसर्ग का स् नहीं होता है। 'पुरुषः पुरुषः।' यहाँ आम्रेडित परे है। अतः सत्व नहीं होता है। 'तस्य परमाम्रेडितम्' (८।१।२) सूत्र से द्वित्व में परवर्ती की आम्रेडित संज्ञा होती है।

इस सूत्र का प्रयोजन केवल स्पष्टता है क्योंकि सत्त्व को व्यवस्थित विभाषा मान लेने पर जहाँ इष्ट है वहाँ सत्त्व होगा जहाँ इष्ट नहीं है वहाँ विसर्ग ही रहेगा। फलतः यह सूत्र और आगे वाले सत्त्वविधायक सभी सूत्र स्पष्टतार्थ हैं—ऐसा नागेश का कथन है॥२४८॥

वेदविषय में—कः, करत्, करति, कृधि तथा कृत—इनमें से किसी भी शब्द के परे रहते विसर्ग का स् आदेश होता है किन्तु अदिति शब्द के विसर्ग को छोड़ कर अर्थात् अदिति शब्द के विसर्ग का विसर्ग ही रहता है अन्य शब्दों के विसर्ग का स् आदेश हो जाता है।

उदा० कः—१. प्रदिवो अपस्कः। यहाँ 'कः' यह किम् का रूप नहीं है अपितु वेद में कृ धातु से लुङ् = तिप् कृ +ति, अट् आगम प्राप्त होता है किन्तु 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' (६।४।७५) सूत्र से उसका अभाव हो जाता है। 'च्लि लुङि' (३।१।४३) सूत्र से च्लि होता है और 'मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृचकृगमिजनिभ्यो

१. **कः करत्**। करिति कृञो लुङ् 'मन्त्रे घस्य—' इत्यादिना च्लेर्लुक् तिपि गुणः हल्ङ्यादिलोपः। 'बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि' इत्यडभावः। करदिति कृञ् एव लुङ्। 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' इति च्लेरङ्। 'ऋदृशोऽङि—' इति गुणः। करतीति लट् व्यत्येन शप्। कृधीति लोट् सेर्हिः। 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' इति हेर्धिरादेशः। कृत इति कृञ् एव क्तः। इति सुबोधिनी।

२. **सः स्यादिति**। षत्वस्याप्युपलक्षणम्। अत एवाऽदिति प्रतिषेधः। यत्र तु 'शं नः करदित्यादौ सत्वं न दृश्यते तत्र छान्दसत्वात्सत्वाऽभावो बोध्यः। इति शेखरः।

सुपेशसस्करति। उरुणस्कृधि। (ऋ.८।८५।१) सोमं न चारुं मघवत्सु नस्कृतम्। अनदितेरिति किम्-यथा नो अदितिः करत्। (ऋ.१।४३।२)

लेः' (२।४।८०) सूत्र से च्लि का लुक् हो जाता है। 'इतश्च' (३।४।१००) सूत्र से ति के इ का लोप, कृ धातु की ऋ का गुण अ और रपर कर देने पर —कर्त् बचता है। 'हल्ङ्यादि' सूत्र से त् का लोप, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) सूत्र से रेफ का विसर्ग कर देने पर—'कः' यह बनता है। इसी 'कः' शब्द के परे रहते 'अपः' शब्द के विसर्ग का स् आदेश करने पर—अपस्कः रूप बनता है।

(२) करत्—'यथा नो वस्यसस्करत्।' 'करत्' यह भी कृ धातु के लुङ्लकार का ही रूप है। कृ + लुङ् = तिप् अट् का अभाव, च्लि, 'कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि' (३।१।५९) सूत्र से च्लि का अङ् आदेश—कृ+अ+ति, 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७।४।१६) इस सूत्र से ऋ का गुण अ, रपर—कर् अति, 'इतश्च' सूत्र से ति के इ का लोप—करत्। वस्यसः + करत्, विसर्ग का सत्व करने पर—'वस्यसस्करत्' हो जाता है।

(३) करति—'सुपेशस्करति। कृ धातु से लट्, तिप् + तनादिगणीय होने से 'तनादिकृञ्भ्यः उः' (३।१।७९) सूत्र से उ विकरण प्राप्त है किन्तु व्यत्यय से शप् होता है।—कृ + शप् = अ + ति, सार्वधातुक परे मानकर ऋ का गुण अ, रपर—करति। सुपेशः + करति। विसर्ग का स् करने पर—सुपेशस्करति।

(४) कृधि—'उरुणस्कृधि।' कृधि भी 'कृ' धातु का लोट् लकार मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है। कृ + लोट् = सिप्, 'सेर्ह्यपिच्च' (३।४।८७) सूत्र से सि का अपित् हि आदेश, ऋ के गुण का निषेध। बाहुलकात् शप् और 'बहुलं छन्दसि' (२।४।७३) सूत्र से उसका लुक्, 'श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि (६।४।१०२) सूत्र से 'हि' का धि आदेश—कृधि। उरुणः + कृधि, विसर्ग का स् करने पर—उरुणस्कृधि। 'उरुणः' यहाँ पर यहीं आगे वक्ष्यमाण सूत्र ''नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः (८।४।२७) इस सूत्र से 'उरु + नः' में न का णत्व किया जाता है।

(५) कृतम् —'सोमं न चारु मघवत्सु नस्कृतम्।' कृ धातु से निष्ठा क्त है। अतः कित् होने से गुणादि नहीं होते हैं। नः + कृतम्, विसर्ग का स् करने पर—नस्कृतम् रूप बनता है।

'अदिति' शब्द का विसर्ग न हो—इसका क्या फल है? 'यथा नो अदितिः करत्।' इसमें 'करत्' शब्द के परे रहते भी विसर्ग का स् नहीं हाता है क्योंकि यह विसर्ग 'अदिति' शब्दरूप का है।।२४९।।

(२५०) ३६३६ पञ्चम्याः परावध्यर्थे[1]। (८-३-५१) पञ्चमी-विसर्गस्य सः स्यादुपरिभवार्थे परिशब्दे परतः। दिवस्परि प्रथमं जज्ञे। (ऋ.१०।४५।१) अध्यर्थे किम्-दिवस्पृथिव्याः पर्योजः। (ऋ.६।४७।२७)

(२५१) ३६३७ पातौ च बहुलम्। (८-३-५२) पञ्चम्या इत्येव। सूर्यो नो दिवस्पातु। (ऋ.१०।१५८।१)

वेदविषय में पञ्चमी के विसर्ग का स् होता है अधि के अर्थ में परिशब्द का प्रयोग रहने पर। यहाँ 'अधि' का अर्थ 'उपरिभव'= ऊपर होना—यह है। इस प्रकार ऊपर होना—इस अर्थ में परिशब्द का प्रयोग हो, ऐसे परिशब्द परे रहने पर पञ्चमी के विसर्ग का स् आदेश होता है।

उदा० 'दिवस्परि प्रथमं जज्ञे।' दिवः + परि यहाँ पञ्चम्यन्त 'दिवः' का विसर्ग है, उपरि अर्थ वाला परि शब्द परे है, विसर्ग का 'स्' होता है। यहाँ व्यत्यय द्वारा षष्ठी के अर्थ में पञ्चमी हुई है। अतः पञ्चमी के विसर्ग का स् हो जाता है।

'अधि' के अर्थ में 'परि' हो—इसका क्या फल है? 'दिवस्पृथिव्याः पर्योजः।'यहाँ 'परि' शब्द सर्वतोभाव = सभी ओर होना—इस अर्थ में है अधि के अर्थ = उपरिभव में नहीं है। अतः पूर्ववर्ती 'पृथिव्याः' इस पञ्चमी विभक्ति के विसर्ग का स् न होकर विसर्ग ही रहता है।।२५०।।

वेदविषय में पा धातु परे रहते पञ्चमी के विसर्ग का स् बहुल रूप से होता है।

उदा० 'सूर्यो नो दिवस्पातु।' यहाँ भी 'दिवः' पञ्चमी का विसर्ग है, उसका स् हो जाता है।

'पातु' यह लोडन्त शब्दरूप का अनुकरण है।

कुछ विद्वान् 'पतौ' ऐसा पाठ मानकर पत् धातु के किसी भी रूप में सत्त्व मानते हैं। इसीलिये कहीं-कहीं 'पाताविति धातुनिर्देशः' ऐसा भी पाठ है—ऐसा पदमञ्जरीकार और न्यासकार ने लिखा है। किन्तु लोडन्तरूप का अनुकरण है—यही अधिकांश विद्वान् मानते है। 'बहुलम्' के कारण कहीं-कहीं सत्व नहीं भी होता है, जैसे—'परिषदः पातु।'

---

१. अध्यर्थे—इति परेर्विशेषणम्। दिवस्परीति। दिव उपरीत्यर्थः। सूत्रे व्यत्ययेन षष्ठीस्थाने पञ्चमी। इति शेखरः।

(२५२) ३६३८ षष्ठ्याः[1] पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु। (८-३-५३) वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्। (ऋ.१०।८१।७) दिवस्पुत्राय सूर्याय। (ऋ. १०।३७।१) दिवस्पृष्ठं भन्दमानः। (ऋ. ३।२।१३) तमसस्पारमस्य। (ऋ.१।९२।६) परिवीत इळस्पदे। (ऋ.१।१२८।१) दिवस्पयो दिधिषाणाः। (ऋ.१०।११४।१) रायस्पोषं यजमानेषु (ऋ.८।५९।६०)

वेदविषय में पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् तथा पोष—इनमें से किसी भी शब्द के परे रहते षष्ठी विभक्ति के विसर्ग का स् आदेश होता है।

क्रमशः उदा० (१) पति—'वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्।' वाचः पतिः—इसमें षष्ठीसमास होने पर भी 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।१।१४) इस सूत्र में बहुल ग्रहण के प्रभाव से कृद्भिन्न में भी विभक्ति का लुक् नहीं होता है। उसी के विसर्ग का स् हो जाता है—वाचस्पतिम्।

(२) पुत्र—'दिवस्पुत्राय सूर्याय।' दिवः पुत्राय यह विग्रह है, षष्ठी-समास है। यहाँ भी विभक्ति का लुक् नहीं होता है। विसर्ग का स् हो जाता है।

(३) पृष्ठ—'दिवस्पृष्ठं भन्दमानः।' दिवः पृष्ठम्-विग्रह है। षष्ठी-समास, विभक्ति का अलुक्, विसर्ग का स् होता है।

(४) पार—'तमसस्पारमस्य।' तमसः पारम् —इस षष्ठी समास में विभक्ति का अलुक्, विसर्ग का स् होता है।

(५) पद—'परिवीत इळस्पदे।' इळः + पदे इस षष्ठीसमास में विभक्ति का अलुक्, विसर्ग का स्। 'इड्' शब्द के षष्ठी एकवचन में ङस् = अस् परे रहने पर 'द्वयोः स्वरयोर्मध्यमेत्य सम्पद्यते डकारो ळकारः' इति प्रातिशाख्यवचन के अनुसार ड का 'ळ' हो जाता है।

(६) पयस्—'दिवस्पयो दिधिषाणाः।' दिवः पयः—इस षष्ठीसमास में विभक्ति का अलुक्, विसर्ग का स् होता है।

(७) पोष—'रायस्पोषं यजमानेषु।' रायः पोषम्—इसमें षष्ठीसमास, विभक्ति का अलुक्, विसर्ग का स् आदेश होता है।

यह सूत्र केवल षष्ठी विभक्ति के विसर्ग का ही सत्त्व करता है। अतएव काशिका में प्रत्युदाहरण दिया गया है—षष्ठ्या इति किम्? मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। यहाँ प्रथमा का विसर्ग है। अतः इसका स् नहीं होता है॥२५२॥

१. षष्ठीविसर्गस्य स आदेशो भवति पत्यादिषु परेषु।

(२५३) ३६३९ इडाया वा[1]। (८-३-५४) पतिपुत्रादिषु परेषु। इळायास्पुत्रः। (ऋ.३।२९।३) इळायाः पुत्रः। इळायास्पदे। इळायाः पदे।

'निसस्त[2]पतावनासेवने' (८।३।१०३।२४०३) निसः सकारस्य मूर्धन्यः स्यात्। निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः। (वा.सं.१।७) अनासेवने

वेदविषय में पूर्वसूत्रोक्त पति आदि सात शब्दों के परे रहते 'इडायाः' इस षष्ठ्यन्त रूप के विसर्ग का स् आदेश विकल्प से होता है। पूर्वसूत्र में किसी शब्द विशेष का ग्रहण नहीं है। सामान्यरूप से प्रवृत्त होता है। किन्तु यह सूत्र केवल 'इडायाः' के विसर्ग के विषय में प्रवृत्त होता है।

उदा०—इळायास्पुत्रः, इळायाः पुत्रः।' षष्ठीसमास, विभक्ति का अलुक्, प्रस्तुत सूत्र से विसर्ग का स् आदेश विकल्प से होता है। अतः पक्ष में विसर्ग भी रहता है। दोनों रूप होते हैं।

इळायास्पदे, इळायाः पदे। विकल्प से 'स्' होता है। (अन्य उदाहरण काशिकानुसार—इळायास्पतिः इळायाः पति। इळायास्पृष्ठम्, इळायाः पृष्ठम्। इळायास्पारम्, इळायाः पारम्। इळायास्पयः, इळायाः पयः। इळायास्पोषम्, इळायाः पोषम् इनमें भी ड् का ळ होता है॥२५३॥

(क) 'निसस्तपनावनासेवने' (८।३।१०२) = तप् धातु अनासेवन अर्थ वाले 'तपति' के परे रहते निस् के सकार का मूर्धन्य आदेश होता है। आसेवनम् = पुनः पुनः करणम्। तद्भिन्नम् = अनासेवनम्।

उदा० 'निष्टप्तं रक्षः निष्टप्ताः अरातयः। निस् + तप्तम्। स् का मूर्धन्य ष् होने पर 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) सूत्र से त् का ष्टुत्व होता है। इसी प्रकार निस् + तप्ताः इसमें भी षत्व करने पर ष्टुत्व सन्धि हो जाती है।

(यद्यपि उक्त उदाहरणों में भी आसेवन अर्थ की प्रतीति हो रही है तथापि उसे अविवक्षित मानकर षत्व होता है। अथवा विसर्ग का स् आदेश सामान्य सूत्र से करने के बाद छान्दस वर्णव्यत्यय मानकर स् का ष् कर दिया जाता है।)

अनासेवन में—इसका क्या फल है? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः। पुनः

१. 'इडाया' इति षष्ठ्यन्तानुकरणम्। पत्यादयः पूर्वसूत्रादनुवर्तन्ते। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पयार्थं वचनम्।

२. अस्य सूत्रस्य लोकवेदोभयसाधारणत्वादत्रोपन्यासश्चिन्त्यः।

किम्-निस्तपति। पुनः पुनस्तपतीत्यर्थः।

(२५४) ३६४० [1]युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम्। (८-३-१०३)

पादमध्यस्थस्य सस्य मूर्धन्यः स्यात्तकारादिषु परेषु। युष्मदादेशाः—त्वं त्वा ते तवाः। त्रिभिष्ट्वं देव सवितः। तैभिष्ट्वा। आभिष्टे। अप्स्वग्ने सधिष्टव।

पुनरग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः। अतः आसेवन अर्थ होने के कारण षत्व नहीं होता है। अतः एक बार तपाना प्रतीत होने पर ही षत्व होता है, कई बार तपाना प्रतीत होने पर षत्व नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये।

नागेश ने एक प्रश्न सही ही उठाया है कि यह सूत्र तो लोक-वेद-उभयसाधारण है और लौकिक सूत्रों के प्रसङ्ग में २४०३ संख्या पर इसका उल्लेख भी किया जा चुका है तब वैदिक सूत्रों के साथ इसका उल्लेख तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता है।

सम्भवतः अग्रिम सूत्र वेदविषयक है। इस लिये उसी के साथ वाला होने से तथा साथ ही षत्वविधायक होने से दीक्षित जी ने यहाँ इसे भी रख दिया है।।क।।

वेदविषय में अन्तःपाद = पादमध्यस्थ सकार का मूर्धन्य षकार आदेश होता है यदि उसके बाद युष्मत्, तत् तथा ततक्षुस् शब्दों का तकारादि कोई रूप रहता है। इसमें षत्व के सामान्य निमित्त इण् तथा कवर्ग से परे ही स् होना चाहिये।

(१) युष्मद् शब्द के आदेशभूत रूप—त्वम्, त्वा, ते, तव—ये तकारादि होते हैं। उदा० 'त्रिभिष्ट्वं देव सवितः।' (क) त्रिभिः + त्वम्, विसर्ग का स् 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) सूत्र से कर देने के बाद प्रस्तुत सूत्र से स् का ष् आदेश होता है। इसके वाद 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) सूत्र से ष्टुत्व करने पर त् का ट् हो जाता है—'त्रिभिष्ट्वं' बनता है।

(ख) इसी प्रकार—तेभिः + त्वा—इसमें भी विसर्ग का सत्व, स् का षत्व और त का ष्टुत्व होता है—तेभिष्ट्वा।

(ग) आभिष्टे—इसमें 'आभिः + ते, विसर्ग का सत्व, स् का षत्व, ष्टुत्व होता है।

(घ) अप्स्वग्ने सधिष्टव—सधिः + तव, विसर्ग का सत्व, स् का षत्व और त का ष्टुत्व होता है।

---

१. 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०३) इत्यतः 'तादौ' इत्यनुवर्तते, तच्च युष्मद एव विशेषणम्, नेतरयोरव्यभिचारात्। सूत्रे 'ततक्षुःष्वि' ति सान्तानुकरणात् सुप्सकारस्य 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपी' ति षत्वं बोध्यम्।

(ऋ. ८।४२।९) अग्निष्टद्विश्वम्। (ऋ. १०।२।४) द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। (ऋ. १०।३१।७) अन्तःपादं किम-तदग्निस्तदर्यमा। यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः। (तै. सं. ३।२।५।४) अत्राग्निरिति पूर्वपादस्यान्तो न तु मध्यः।

(२५५) ३६४१ यजुष्येकेषाम्। (८।३।१०४) युष्मत्तत्ततक्षुषु परतः सस्य मूर्धन्यो वा। अर्चिभिष्ट्वम्। अग्निष्टे अग्रम्। अर्चिभिष्टतक्षुः। पक्षे

(२) तत् का उदा० अग्निष्टद् विश्वम्। अग्निः + तत् यहाँ तत् शब्द परे है, विसर्ग का सत्व, स् का षत्व और त् का ष्टुत्व होने पर अग्निष्टत् + विश्वम् —जश्त्व से त् का द् होता है—अग्निष्टद्विश्वम्।

(३) ततक्षुस् का उदा० द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः। निः +ततक्षुस्, विसर्ग का सत्व, स् का षत्व तथा ष्टुत्व करने पर रूप बनता है—निष्टतक्षुः। तक्ष धातु के लिट् लकार प्रथम पुरुष बहुवचन झि = उस् का रूप है।

प्रस्तुत सूत्र में 'अन्तःपादम्' अर्थात् किसी पाद के मध्य में स्थित—ऐसा क्यों कहा गया, अर्थात् इसके ग्रहण का क्या फल है? 'तदग्निस्तदर्यमा। यहाँ तत् शब्द तो है किन्तु पूर्ववर्ती विसर्ग पादमध्यस्थ नहीं है क्योंकि—'तदग्निस्' यह पाद के अन्त में है। अतः स् का मूर्धन्य आदेश नहीं होता है।

उपर्युक्त के समान ही—'यन्म आत्मनो मिन्दाभूदग्निस्तत्पुनराहार्जातवेदा विचर्षणिः' इसमें भी अग्निस् के स् का ष् नहीं होता है क्योंकि 'अग्निस्' यह पूर्वपाद के अन्त में है और 'तत्पुनराहा' आदि दूसरे पाद के आदि में है। अतः यह स् पाद के मध्य में नहीं है। फलतः षत्व नहीं होता है, स् ही रहता है।।२५४।।

कुछ आचार्यों के मत में युष्मत्, तत् तथा ततक्षुस् के तकारादि रूप के परे रहते स का ष होता है यजुर्वेद में। कुछ का मत होने से विकल्प फलित होता है। इसलिये यजर्वेद में यह षत्व विकल्प से होता है

उदा० (१) अर्चिभिष्ट्वम्। अर्चिभिः + त्वम् यहाँ युष्मत् का तकारादि रूप परे है स् का ष और ष्टुत्व से त् का ट् हो जाता है। इसी प्रकार—अग्निष्टे अग्रम्। अग्निः + ते यहाँ भी स् का ष, ष्टुत्व होता है।

(२) तत् का उदा० नहीं दिया गया है। वह है—अग्निष्टत्। अग्निः + तत्, विसर्ग का स्, स् का ष, ष्टुत्व।

अर्चिभिस्त्वंमित्यादि।

(२५६) ३६४२ [1]स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि(८-३-१०५) नृभिष्टुतस्य,

---

(३) ततक्षुस्— अर्चिभिष्टतक्षुः। अचिभिः +ततक्षुः। विसर्ग का स् करने के बाद स् का ष, ष्टुत्व होता हैं

यह मूर्धन्य ष आदेश वैकल्पिक है। अतः पक्ष में स् वाले रूप भी हो सकते हैं—(१) अर्चिभिस्त्वम्।, (२) अग्निस्तत्, (३) अर्चिभिस्ततक्षुः।

यजुर्वेद में पादव्यवस्था नहीं है क्योंकि गद्यांश है। इसी कारण इस सूत्र में अन्तःपादम् = पादमध्यस्थ विसर्ग यह विशेषण नहीं रखा जाता है। इण्, कवर्ग से परे सभी प्रकार के विसर्ग का षत्व हो जाता है युष्मदादि परे रहते—यही सूत्रार्थ है।।२५५।।

छन्दोविषय = वेदविषय में स्तुत तथा स्तोम इन दो शब्दों के स् का 'ष्' आदेश होता है। (कुछ के अनुसार होने से यह षत्व वैकल्पिक है। अतः षत्व तथा सत्व दोनों के रूप होते हैं।)

उदा० नृभिःष्टुतस्य, नृभिःस्तुतस्य—यहाँ नृभिः + स्तुतस्य—इस अवस्था में प्रस्तुत सूत्र से स्तुत के स् का ष् करने पर ष्टुत्व हो जाने के कारण—(१) नृभिःष्टुतस्य रूप बनता है। जब ष् नहीं होता है तब—(२) नृभिः स्तुतस्य रूप होता है। अब दोनों रूपों में पूर्ववर्ती विसर्ग का स् करने के बाद ष्टुत्व करके दो षकारों वाला एक रूप होता है—नृभिष्ष्टुतस्य। किन्तु जब 'वा शरि' (८।३।३६) सूत्र से विसर्ग ही रहता है तब (२) नृभिःष्टुतस्य यह रूप होता है। और तीसरा रूप ष् आदेश न करने पर रहता है—(३) नृभिः स्तुतस्य। इसमें भी पाक्षिक विसर्ग और पाक्षिक सत्व मानकर (४) नृभिस्स्तुतस्य बनाया जा सकता है। यहाँ 'झलो झलि' (८।२।२६) से वैकल्पिक स् लोप करने के कारण एक स् वाला भी एक रूप हो सकता है।

---

१. 'पूर्वपदात्' (८।३।१०४) इति अग्रिमसूत्रेणैव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिति काशिका।

'पूर्वपदमि' ति सामान्येन तत्राश्रीयते न तु समासावयव एवेति वाक्येऽपि तेनैव सिद्धं षत्वमिति भावः। ततश्च स्तुत-स्तोमग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। छन्दोग्रहणं तूत्तरार्थं कर्तव्यमेव।। इति पदमञ्जरी सुबोधिनी च।

अनेन व्याख्यानेनोदाहरणदर्शनेन च स्तुत-स्तोमयोः स्थानित्वमेव बोध्यं न तु निमित्तत्वम्। अनयोः सस्य मूर्धन्यादेशो वा भवतीति बोध्यम्।

नृभिः स्तस्य। गोष्टोमम्। (तै.स.७।४।११।१) गोस्तोमम्। (आप.श्रौ सं. २३।१२।१८) पूर्वपदादित्येव सिद्धे प्रपञ्चार्थमिदम्।

इस प्रकार षत्व पक्ष में २—नृभिः ष्टुतस्य, नृभिष्टुतस्य। और सत्व पक्ष में ३—नृभिः स्तुतस्य, नृभिस्स्तुतस्य, नृभिस्तुतस्य। अधिकांश संस्करणों में इस पर ध्यान न देकर केवल षत्व वाले और सत्व वाले दो ही रूप प्रकाशित किये गये हैं।

स्तोमम् का उदा० गोष्टोमम्, गोस्तोमम्। यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास, विभक्तिलोप आदि के बाद प्रस्तुत सूत्र से स् का ष् करने के बाद ष्टुत्व करने पर (१) गोष्टोमम्, षत्व न करने पर गोस्तोमम्। यहाँ भी यदि समास न मानकर—गोभिष्टोमम् और गोभिस्स्तोमम् पाठ मानें तो पूर्वोक्त रीति से पाँच रूप सम्भव हैं।

प्रस्तुत सूत्र के बाद सूत्र पढा गया है—'पूर्वपदात्' (८।३।१०६) इसका अर्थ है—पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे स् का ष आदेश हो जाता है। यहाँ पूर्वपद यह समासावयव में पारिभाषिक न लेकर सामान्य रूप में पदमात्र का बोधक मानना चाहिये। अतःप्रस्तुत सूत्र के स्तुत और स्तोम शब्द भी यदि ष् के निमित्तभूत किसी पूर्वपद के इण् या कवर्ण से परे हों तो इनका भी षत्व उस उत्तरवर्तीसामान्य सूत्र से ही सम्भव है। इस कारण प्रस्तुत सूत्र केवल प्रपञ्चार्थ = सारल्येन बोधार्थ ही समझना चाहिये, इसकी विशेष आवश्यकता नहीं है।

विमर्श—कुछ आधुनिक व्याख्याकारों ने सिद्धान्तकौमुदी में इस सूत्र की कोई वृत्ति न होने के कारण अपने मन से अशुद्ध अर्थ यह लिखा है—'वेद में इण् तथा कवर्ग से परे स् का ष होता है स्तुत और स्तोम शब्दों के परे रहते।' यह प्रमादग्रस्त है। प्रस्तुत सूत्र तो स्तुत और स्तोम के स् का ही ष् करता न कि इनके परे रहते किसी अन्य के स् का ष्।

सूत्र में षष्ठ्यन्त द्विवचन का प्रयोग है सप्तम्यन्त का नहीं है। इस विषय में काशिकावृत्ति देखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त 'पूर्वपदात्' इस सूत्र द्वारा इनका षत्व सम्भव है। अतः इस सूत्र की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। यह कथन भी सिद्ध करता है कि स्तुत और स्तोम का ही षत्व होता है। गोष्टोमम् —यह समास का उदाहरण भी है। इस 'स्तोम' के ही स् का ष् माना जाय। अतः इन दोनों शब्दों के स् का षत्व मानना ही उचित है।।२५६।।

(२५७) ३६४३ पूर्वपदात्। (८-३-१०६) पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सस्य षो वा। यदिन्द्राग्नी दिविष्ठः। युवं हि स्थः स्वर्पती।

(२५८) ३६४४ सुञः। (८-३-१०७) पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य सुञो निपातस्य सस्य षः। ऊर्ध्व ऊषु णः। (ऋ.१।३६।१३) अभीषु णः। (ऋ.४।३१।१३)

(२५९) ३६४५ सनोतेरनः[1]। (८-३-१०८) गोषा इन्दो नृषा असि। (ऋ.९।२।१०) अनः किम्-गोसनिः।

पूर्ववर्ती पद में स्थित षत्व के निमित्त इण् अथवा कवर्ग से परे स् का ष् आदेश विकल्प से होता है। (कुछ आचार्य इसे मानते हैं और कुछ नहीं अतः विकल्प फलित होता है। किन्तु यह केवल वेदविषय में ही होता है।)

उदा० 'यदिन्द्राग्नी दिविष्ठः।' दिवि + स्थः यहाँ इण् है पूर्वपद में और उससे परे स् है, उस का ष् होता है। ष् के प्रभाव से ष्टुत्व करने पर थ का ठ हो जाता है।

यह ष् आदेश वैकल्पिक है। अतः नहीं भी होता है—'युवं हि स्थः स्वर्पतिः।' यहाँ 'हि' पूर्वपद है, इसमें इण् है अतः 'स्थः' के स् का ष् होना चाहिये। किन्तु वैकल्पिक षत्व होने से ष् नहीं भी होता है, स् ही रहता है।

ध्यान रहे यह केवल वेदविषय में ही प्रवृत्त होता हैं॥२५७॥

पूर्वपद में स्थित निमित्त से परे सुञ् निपात के स् का ष् होता है वेदविषय में।

उदा० 'ऊर्ध्व ऊषु णः।' 'अभीषुः णः।' यहाँ पर 'सुञ्' धातु का ग्रहण नहीं है अपितु 'सुञ्' निपात शब्द का ग्रहण है। 'ऊ सु' ये दोनों निपात है। 'इकः सुञि' (६।३।१३४) सूत्र से सुञ् परे इक् का दीर्घ होने से उ का दीर्घ ऊ हो जाता है। साथ ही 'सु' का मूर्धन्यादेश प्रस्तुत सूत्र से कर देने के बाद 'नश्च धातुस्थोरूषुभ्यः' (८।४।२७) सूत्र से न का ण हो जाता है—ऊषुणः। दूसरा उदा० 'अभि सु नः' यहाँ भी इक् का दीर्घ, स् का ष् और न का ण—ये तीनों कार्य पूर्ववत् होने पर—'अभीषु णः' बनता है॥२५८॥

अनकारान्त सनोति धातु के सकार का मूर्धन्य आदेश होता है वेदविषय में।

उदा० 'गोषा इन्द्रो नृषा असि।' गाः सनोति—इस विग्रह में तनादिगणीय 'षणु दाने' धातु के ष का स् आदेश 'धात्वादेः षः सः' (६।१।६४) सूत्र से करने के

१. सनोतेरनकारान्तस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति।

बाद 'जनसनखनक्रमगमो विट्' (३।२।६७) इस सूत्र से विट् प्रत्यय होता है ट् इ का व् तीनों का लोप अर्थात् सर्वापहारी लोप कर देने पर केवल धातु शेष बचता है। उपपद समास, प्रातिपदिकसंज्ञा, विभक्तिलोप करने पर—गोसन् बचता है। प्रत्ययलक्षण से विट् परे मानकर 'विड्वनोरनुनासिकस्यात्' (६।४।४१) सूत्र से 'न्' अनुनासिक का आत् = आ आदेश, सवर्णदीर्घ करने पर—गोसा बनता है। अब यह अनकारान्त सन् का रूप है। अतः प्रस्तुत सूत्र से स् का ष हो जाता है—गोषा।

नृषा—नॄन् सनति—इस विग्रह में पूर्ववत् विट् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप, उपपद समासादिकार्य, न् का आत्व करने के बाद स् का ष होता है।

अनकारान्त सन् का—इस कथन का क्या फल है—गोसनिः। यहाँ गां सनोति—यह विग्रह है। किन्तु 'छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्' ((३।२।२७) सूत्र से इन् प्रत्यय, उपपदसमास, विभक्ति-लोप आदि के बाद—गोसन् इ यह बचता है। यहाँ सन् तो है किन्तु नकारान्त है। अतः प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त नहीं होता है, षत्व नहीं होता है।

यद्यपि यह षत्व तो 'पूर्वपदात्' इसी सूत्र से सम्भव है तब यह सूत्र क्यों बनाया गया? इसका उत्तर है—नियमार्थ। अर्थात् अनकारान्त सन् के ही स् का ष हो अन्य का न हो—यह फल इस सूत्र का है। अतएव 'गोसनिः' आदि रूपों में षत्व नहीं होता है।

विमर्श—पहले 'छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्' (३।२।२७) सूत्र के उदाहरण के रूप में 'उत नो गोषणिं धियम्, यह दिया गया है और षत्व किया गया है। यह कैसे होता है? इसका समाधान वहाँ सूत्र की व्याख्या में नागेश ने यह लिखा है—

"**गोषणिमिति।** गां सनतीति विग्रहः। अत्र 'सनोतेरनः' (८।३।१०४) इति नकारान्तस्य निषेधात् 'गोसनिशब्दस्य सवनादिषु पाठः करिष्यते' इति 'सनोतेरनः' इति सूत्रस्थभाष्याच्च यद्यप्यत्र षत्वं न प्राप्नोति; तथापि दन्त्यस्यैव मूर्धन्यवत् पाठो वैदिकसम्प्रदायानुरोधात्। अत एव पदकाले दन्त्यमेव पठन्ति—गो-सनिमिति।

यत्तु 'सुषामादित्वात् षत्वमिति, तन्न, उक्त सूत्रतद्भाष्यविरोधात्।" लघुशब्देन्दुशेखर (३।२।२७)

काशिकाकार ने 'छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्' (३।२।२७) सूत्र वृत्ति में 'वन षण संभक्तौ' (धा. पा. ४६३, ४६४) का ग्रहण माना है और उदा० दिया है—गोसनिं वाचमुदेयम्। इसमें षत्व नहीं किया है। इसके विपरीत सिद्धान्तकौमुदी में 'उत नो गोषणिं धियम्' यह उदा० दिया गया है और षत्व किया गया है।

(२६०) ३६४६ सहेः पृतनर्ताभ्यां च।[1] (८-३-१९) पृतनाषाहम्। (ऋ.६।७२।५) ऋताषाहम्। चात् ऋतीषाहम्।

काशिकाकार ने 'अनकारान्तस्य किम्? 'गोसनिं वाचमुदेयम्।' यह प्रत्युदाहरण प्रस्तुत सूत्र में लिखा है। ऐसी स्थिति में षत्व मानना या करना चिन्तनीय है।

'सनति' और 'सनोति' इस भौवादिक तथा तानादिक को अलग-अलग मानकर षत्व और षत्वाभाव का उपपादन करना कहाँ तक उचित होगा, यह भी विचारणीय हो सकता है॥२५९॥

वेदविषय में पृतना और ऋत- इन शब्दों से परे रहते 'सह' धातु के स् का ष् मूर्धन्यादेश हो जाता है।

उदा० पृतनाषाहम्। ऋताषाहम्। पृतनां सहते—इस विग्रह में पृतनाम् उपपद सह धातु से 'छन्दसि सहश्च' (३।२।६३) सूत्र से ण्वि प्रत्यय, उस का सर्वापहारी लोप उपपदसमास, विभक्तिलोप—पृतना सह्। णित् परे मानकर सह् धातु की 'अत उपधायाः' से उपधा की वृद्धि, प्रस्तुत सूत्र से स् का ष्। द्वितीया एकवचन अम् प्रत्यय का रूप है—पृतनाषाहम्।

ऋतं सहते—इस विग्रह में पूर्ववत् ण्वि प्रत्यय आदि करने के बाद—ऋत सह्। णित् परे मान कर 'अत उपधायाः' (७।२।११६) सूत्र से सह धातु की उपधा अ की वृद्धि—ऋत साह। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) सूत्र से ऋत का दीर्घ, प्रस्तुत सूत्र से स् का ष्, द्वितीया एकवचन का रूप है—ऋताषाहम्।

सूत्र में 'च' इसका ग्रहण है, जो कि अनुक्त रूपों के समुच्चय के लिये है। अतः यह भी उदाहरण बन सकता है—ऋतीषाहम्। ऋतिं सहते—इस विग्रह में पूर्ववत् ण्वि प्रत्यय, सर्वापहारी लोप उपधावृद्धि, उपपदसमास आदि के बाद 'अन्येषामपि दृश्यते' सूत्र से ऋति का दीर्घ, प्रस्तुत सूत्र से स का ष्, द्वितीया एकवचन का रूप है—ऋतीषाहम्।

कहीं-कहीं 'ऋतीषहम्' ऐसा पाठ है इसमें क्विप् प्रत्यय करना चाहिये जिससे धातु की उपधा की वृद्धि नहीं होती है। इसके अतिरिक्त 'नहिवृतिवृषिव्यधिरुचि-सहितनिषु क्वौ' (६।३।११६) इस सूत्र से पूर्वपद 'ऋति' का दीर्घ समझना चाहिये॥२६०॥

१. पृतना, ऋत-इत्येताभ्यामुत्तरस्य सहि-सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति।

(२६१) ३६४७ निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि।[1] (८-३-११९) सस्य मूर्धन्यः। न्यषीदत्। न्यसीदत्। व्यषीदत्। व्यसीदत् । अभ्यष्टौत्। अभ्यस्तौत्।

(२६२) ३६४८ छन्दस्यृदवग्रहात्[2]। (८-४-२६) ऋकारान्तादवग्रहात्परस्य नस्य णः। नृमणाः। (ऋ. १।१६७।५) पितृयाणम् (ऋ. १०।२।७)।

नि, वि, अभि—इन उपसर्गों से परे सकार का अड्व्यवधान में भी षत्व हो जाता है विकल्प से छन्दोविषय में।

उदा०—न्यषीदत्, न्यसीदत्। व्यषीदत्, व्यसीदत्। नि उपसर्गपूर्वक षद्लृ = सद् धातु से लङ् = तिप्, अट् —नि अ सद् + ति, शप् = अ, 'पा घ्राध्मास्थाम्ना' (७।३।७८) इत्यादि सूत्र से सद् का सीद् आदेश—नि+अ सीद् + अ + ति, नि के इ का यण्, 'इतश्च' सूत्र से ति के इ का लोप। यहाँ इण् से परे स नहीं है, अट् का बीच में व्यवधान है। फिर भी विकल्प से षत्व होता है। अतः न्यषीदत, न्यसीदत्। इसी प्रकार वि + असीदत् —व्यषीदत्, व्यसीदत् —ये दोनों प्रकार के रूप वेद में होते हैं।

अभि का उदा० अभ्यष्टौत्, अभ्यस्तौत्। अभिपूर्वक ष्टुञ् = स्तु धातु का लङ् प्रथमपरुष एकवचन का रूप है। अभि स्तु +लङ् = तिप्, शप् आदादिक होने से शप् का लुक् 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (७।३।८९) सूत्र से उ की वृद्धि औ, उपसर्ग के इ का यण् 'इतश्च' से ति के इ का लोप—अभ्यस्तौत्। अट् के व्यवधान में भी जब ष् = मूर्धन्य आदेश होता है तब ष्टुत्व भी होता है—अभ्यष्टौत्। जब मूर्धन्य नहीं होता है तब—अभ्यस्तौत्॥२६१॥

छन्दोविषय में ऋकारान्त अवग्रह पूर्वपद से परे न का ण हो जाता है।

उदा० नृमणाः। यहाँ 'नृ' का मनस् के साथ समास, विभक्तिलोप आदि करने पर—नृ मनस्, प्रथमा एकवचन में नृमनाः होता है। यहाँ अवग्रह पाठ करने पर न् का ण् हो जाता है—नृऽमणाः।

इसी प्रकार पितृयानम्।यहाँ भी अवग्रह करने पर णत्व होता है—पितृऽयाणम्।

१. 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' (८।३।५५) इत्यतः 'मूर्धन्य' इत्यनुवर्तते। 'न रपरसृपि' (८।३।१०८) इत्यतः 'न' इत्यनुवर्तते। एवञ्चात्र सूत्रे 'वा' ग्रहणात् निषेधविकल्पे विधि—विकल्पः फलत्यत आह—सस्य मूर्धन्य इति। वेति शेषः। इति सुबोधिनी।

२. "अवगृह्यते = विच्छिद्य पठ्यते—इत्यवग्रहः। ऋच्चासाववग्रहश्च ऋदवग्रहः। ऋकाराद्, अवग्रहात्, पूर्वपदात्-इति तिस्रोपि समानाधिकरणपञ्चम्यः। तत्र ऋकारमात्रस्य (पूर्वपदस्य) असम्भवाद् ऋकारेण तदन्तविधिः—अवग्रहभूतो य ऋकारस्तदन्तादिति। संहिताधिकाराच्च संहिताकाले एतेषां णत्वम्, पदकाले चावग्रहः क्रियते। तेनावग्रहयोग्यत्वादृकारोऽवग्रह इत्युक्तः, न तु तद्दशापन्नः" इति पदमञ्जरीकारः।

"अत एव पदपाठे णत्वं न प्रयुज्यते इति शेखरकारः॥"

(२६३) ३६४९ नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः[1]। (८-४-२७) धातुस्थात्। अग्ने रक्षा णः। (ऋ. ७।१५।५३) शिक्षो णो अ॒स्मिन्। (७।३२।२६)

अवग्रह का तात्पर्य है—अवगृह्यते = विच्छिद्य पठ्यते—इत्यवग्रहः। ऋत् चासौ अवग्रहः—ऋदवग्रहः। प्रस्तुतसूत्र में 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति होती है। अतः ऋकारात्, अवग्रहात्, पूर्वपदात्—ये तीनों समानाधिकरण पञ्चम्यन्त हैं। इसी आधार पर पूर्वोक्त सूत्रार्थ किया जाता है।

अवग्रह को समझाने के लिये पदपाठ में 'ऽ' चिह्न लगाया जाता है।

एक बात ध्यान रखनी आवश्यक है ये सभी सूत्र 'सहितायाम्' (८।२।१०८) इस अधिकार के अन्तर्गत आते हैं। और अवग्रह का प्रयोग पदपाठ में होता है। अतः ये दोनों यहाँ कैसे सम्भव है? उत्तर यह है कि यहाँ अवग्रह का अर्थ—अवग्रहविषयत्व अर्थात् अवग्रहयोग्यत्व है। जहाँ यह अवग्रहयोग्यता है वहाँ संहिताकाल में ही णत्व समझना चाहिये। पदपाठ में तो अवग्रह कर ही दिया जाता है। अतः पदपाठ में यह णत्व नहीं किया जाता है। यही व्यवस्था स्वीकार की गई है। तभी संहिताऽधिकार संगत होता है। इस विषय में विशेषज्ञानार्थ काशिका, सुबोधिनी, शेखर आदि व्याख्याग्रन्थ देखने चाहिये॥२६२॥

(१) धातु में स्थित णत्व के निमित्त से परे तथा (२) 'उरु' और (३) 'षु' शब्दों से परे नस् के न का ण हो जाता है वेदविषय में। इसमें तीन निमित्त बतलाये गये हैं। अतः तीनों के उदाहरण दिये गये हैं।

(१) उदा० धातुस्थनिमित्त का उदा० अग्ने रक्षा णः। 'बहुवचने वस्नसौ' (८।१।२१) सूत्र से अस्मद् शब्द का द्वितीया बहुवचन का आदेशभूत रूप है—नस् = नः। 'रक्ष' यह 'रक्ष' धातु लोट् लकार, मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। इसमें 'द्व्यचोऽतस्तिङः' (६।३।१३५) इस सूत्र से अन्त का दीर्घ हो जाता है—रक्षा। इस धातु में णत्व का निमित्त ष है क्योंकि क् + ष = क्ष् होता है। प्रस्तुत सूत्र से णत्व हो जाता है—अग्ने! रक्षा णः।

---

१. धातौ तिष्ठतीति धातुस्थो रेफः षकारश्च। ऊरु इति स्वरूपग्रहणम्, षु-इति कृतषत्वस्य सुञो ग्रहणम्, न सप्तमीबहुवचनस्य। तेन 'इन्द्रो धाता ग्रहेषु न' इत्यत्र न भवति। नस्-इति नासिकादेशस्यास्मदादेशस्य च सामान्येन ग्रहणम्, ततोऽत्रास्मदादेश एव कार्यी, तस्यैव धातुस्थादिभ्यः परस्य सम्भवादिति पदमञ्जरी॥

उरु॒ णस्कृधि। (ऋ.८।७५।११) अ॒भीषु णः। (ऋ.४।३१।३) मो षु णः।

॥इत्यष्टमोऽध्यायः॥

॥ इति वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुद्यां वैदिकी प्रक्रिया ॥

—o—

---

(२) उरु णस्कृधि। कृधि—यह वेद में लोट् मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है क्योंकि सि का हि आदेश करने के बाद "श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि' (६।४।११०) सूत्र से हि का धि आदेश तथा विकरणलोप आदि करने पर 'कृधि' बनता है। उरु शब्द के बाद 'नः' शब्द है, न का ण हो जाने पर विसर्ग का सत्व हो जाता है—उरु णस्कृधि। विसर्ग का स् आदेश 'कः करत्' (८।३।५०) इत्यादि सूत्र से होता है।

(३) अभीषुणः। यहाँ अभि के बाद 'सु' है जिसका 'सुञः' (८।३।१०७) सूत्र से मूर्धन्य करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से न् का ण हो जाता है। अभि' की इ का दीर्घ 'इकः' सुञि' (६।३।१३४) सूत्र से होता है।

मो षु णः। मो सु नस् यहाँ भी सु के स् का षत्व करने के बाद प्रस्तुत सूत्र से नस् के न का ण होता है। मा उ सु नः—ऐसा सन्धि-विच्छेद समझना चाहिये।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'सु' यह षत्व किये गये 'सुञ्' का ही अनुकृत रूप है न कि सप्तमीवचन सुप् का षु। अतः 'गृहेषु नः' आदि में णत्व की शंका नहीं करनी चाहिये।

नस् 'नस्' यह अस्मद् का आदेशभूत तथा नासिका का 'पद्दन्नोमास्' (६।१।६३) आदि से होने वाले नस् आदेश दोनों का ग्रहण है। किन्तु जो भी उदाहरण दिये गये हैं। उन सभी में अस्मद् का आदेशभूत 'नस्' ही कार्यी के रूप है। किन्तु इस सूत्र के आगे वाला सूत्र 'उपसर्गाद् बहुलम्' (८।२।२८) है। इस में दोनों प्रकार के नस् शब्द का ग्रहण होता है, ऐसा न्यासकार तथा पदमञ्जरीकार का कथन है। 'उपसर्गाद् बहुलम्' सूत्र में 'बहुलम्' का ग्रहण होने से यह सूत्र लोक तथा वेद दोनों में ही नस् के न का ण करता है। दीक्षित ने इस सूत्र का उल्लेख यहाँ नहीं किया है अपि तु बहुव्रीहि समास में रखा है और उदाहरण दिया है—प्रणसः। यहाँ भी इसका संकेत कर देना अनुचित नहीं रहता। प्रणसः—इस बहुव्रीहि में

'उपसर्गाच्च' (५।४।११९) इस सूत्र से नासिका का नस् आदेश होता है। प्रगता नासिका यस्य सः—ऐसा विग्रह है॥२६३॥

।। इस प्रकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के अष्टम अध्याय का चतुर्थपाद तथा श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित-विरचित 'वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी' में 'वैदिकी प्रक्रिया' समाप्त हुई ।।

—०—

कृपया विश्वनाथस्य गुरुपितृप्रसादतः ।
समाप्ता वैदिकी व्याख्या स्वर्प्यते शिवयोर्मुदा ।।

।। इस प्रकार श्रीबनारसीलालात्मज-सियादुलारीगर्भज 'आचार्य'
जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी'
हिन्दी-व्याख्या में पाणिनीय अष्टाध्यायी के
अष्टम अध्याय के वैदिक सूत्रों की व्याख्या
सम्पूर्ण हुई तथा 'वैयाकरण-सिद्धान्त-
कौमुदी' की 'वैदिकी प्रक्रिया'
समाप्त हुई।।

।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।।

—०—